0-9-0



विक्रमाङ्कदेवचरितचर्चा

अर्थात्

महाकवि-बिल्हण-कृत
विक्रमाङ्कदेवचरित काव्य की आलोचना

लेखक

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

द्वितीयावृत्तिः] १९१० ई० [मूल्य।≈)

Printed and Published by Punch Kory Mitra,
at the "Indian Press, Allahabad.



भूमिका ।

इस निबन्ध में जहाँ कहीं हमने बिल्हण के प्रतिकूल कुछ कहा है उसे पाठक बिल्हण की अप्रतिष्ठा का कारण न समझें । किसी की रचना की आलोचना करने में समालोचक यदि शुद्ध हृदय से अपनी सम्मति प्रकट करे तो उससे उसकी अप्रतिष्ठा नहीं होती । बिल्हण की अप्रतिष्ठा या निन्दा करने का विचार तो दूर रहा, उलटा हमने उनका परिचय हिन्दी जाननेवालों से करा कर उनकी ख्याति को बढ़ाने का प्रयत्न किया है ।

जुही, कानपुर
२३ जनवरी ०७

महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

विक्रमाङ्कदेवचरितचर्चा ।

उपोद्घात ।



मारी नैषध-चरित-चर्चा को प्रकाशित हुए ६ वर्ष हुए । उसके अन्त में हमने यह कहा था कि यदि वह निबन्ध उपयोगी समझा गया तो वैसे ही और निबन्ध भी लिखने का हम यत्न करेंगे । हमारे लिए यह उत्साह की बात है कि उसे अनेक सुयोग्य सज्जनों ने पसन्द करके और भी वैसे ही निबन्ध लिखने के लिए हमसे अनुरोध किया । अतएव उनकी इच्छा पूर्ण करने के लिए हमें यह लेख लिखे तीन वर्ष हुए । हमारी इच्छा थी कि हम इसे क्रम क्रम से सरस्वती में प्रकाशित करें; परन्तु उसमें स्थान मिलने की आशा न देख इसे अब हम अलग ही प्रकाशित करते हैं ।

संस्कृत-ग्रन्थों की समालोचना हिन्दी में होने से यह लाभ है कि समालोचित ग्रन्थों का सारांश और उनके गुण-दोष पढ़नेवालों को विदित हो जाते

हैं। ऐसा होने से सम्भव है कि संस्कृत में मूल ग्रन्थें को देखने की इच्छा से कोई कोई उस भाषा का अध्ययन करने लगें; अथवा उनके अनुवाद देखने की अभिलाषा प्रकट करें। अथवा यदि यह कुछ भी न हो; संस्कृत का प्रेममात्र उनके हृदय में अङ्कुरित हो उठे; तो उससे भी थोड़ा बहुत लाभ अवश्य ही है।

नैषध-चरित-चर्चा के विषय में जिन विद्वानों ने हमको पत्र लिखे। और विशुद्ध-हृदय से, उत्साह-वर्द्धक वाक्यों में, सूचनायें कीं, उनको हम धन्यवाद देते हैं। इस निबन्ध के लिखने में हमने उन सूचनाओं को सादर स्वीकार किया है। हम उनको भी धन्यवाद करते हैं जिन्होंने नैषधचरितचर्चा को अक्षम्य दोषों से दूषित पाया। इसमें उनका कोई दोष नहीं। विक्रमाङ्कदेवचरित के कर्ता बिल्हण ने बहुत ठीक कहा है—

द्वेष्यैव केषामिह चन्द्रखण्डविपाण्डुरापुंड्रकशर्करापि !

अर्थात् चन्द्रमा के समान उजली बनारसी शक्कर से भी कोई कोई पुरुष द्वेष करने लगते हैं।

आधुनिक विद्वानों ने संस्कृत में जिस जीवन-चरित का पहले पहल पता लगाया वह हर्षच

है। उसमें प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट ने राजा हर्षवर्धन का चरित गद्य में लिखा है। उसके अनन्तर बहुत वर्षों तक और किसी दूसरे चरित का पता नहीं लगा। कोई ३० वर्ष हुए डाकृर बूलर और डाकृर जकोबी राजपूताना में प्राचीन संस्कृत पुस्तकों की खोज करने गये। वहाँ जैसलमेर के क़िले में ओसवाल जैनों के वृहज्-ज्ञानकोश नामक पुस्तकालय में ताड़ के पत्तों पर लिखी हुई विक्रमाङ्कदेवचरित की एक पुस्तक उन्हें मिली। जीवनचरितों में हर्षचरित के अनन्तर यह दूसरी पुस्तक है। इस के कर्नाटक प्रान्त के प्राचीन कल्याण नगर के राजा विक्रमाङ्कदेव का पद्यात्मक चरित है। विक्रमाङ्कदेव ही की सभा के कवि बिल्हण ने इसकी रचना की है। बिल्हण काश्मीरी थे। वे ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं। विक्रमाङ्कदेवचरित की पुस्तक, जो जैसलमेर में पूर्वोक्त डाकृरों को मिली, १२८६ ईसवी की लिखी हुई है; जिससे यह सिद्ध होता है, कि बिल्हण के केवल दोही सौ वर्ष पीछे वह लिखी गई थी। जबसे विक्रमाङ्कदेवचरित का पता लगा तबसे आज तक कुमारपालचरित, गौडवध, हम्मीरवध और नवसाहसाङ्कचरित आदि और कई

ऐतिहासिक काव्य मिले और प्रकाशित हुए हैं। इनमें से कुमारपालचरित और गौडवध प्राकृत भाषा के काव्य हैं। नवसाहसाङ्कचरित में ऐसी बातें हैं जिनका करना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। हम्मीरवध, विक्रमाङ्कदेवचरित की अपेक्षा बहुत छोटा और उससे कई बातों में हीन भी है। अतएव आजतक प्राप्त हुए संस्कृत भाषा में लिखे गये जीवनचरितरूपी पद्यात्मक काव्यों में विक्रमाङ्कदेवचरित का पहला नम्बर है। इसी लिए उसके विषय में हिन्दी जाननेवालों के लिए हमने यह निबन्ध लिखना उचित समझा। नैषधचरितचर्चा में जिस नवसाहसाङ्कचरित का नाम हमने लिखा है वह श्रीहर्ष-कृत है; और जिस नवसाहसाङ्कचरित का उल्लेख यहाँ पर हमने किया वह परिमल, उपनाम पद्मगुप्त कृत है। जैसलमेर के पुस्तकालय के सूचीपत्र में श्रीहर्ष-कृत नवसाहसाङ्कचरित का भी नाम पाया जाता है, जिससे यह सूचित होता है कि किसी समय वह पुस्तक भी उस पुस्तकालय में विद्यमान थी; परन्तु अब वह वहाँ नहीं है। उसमें गौड़देश के राजाओं का चरित है। यदि वह चरित मिलता तो सम्भव है कि अनेक ऐतिहासिक बातों

का पता लग जाता, और उसके साथही श्रीहर्ष की अप्रतिम कविता का भी अलभ्य लाभ होता।

प्राचीन काल में संस्कृत का प्रचार, इस देश में, अधिकता से था। उस समय अनेक विद्वान् संस्कृत विद्या की पराकाष्ठा को पहुँच कर अपना यश देश देशान्तरों में पहुँचाते थे और नाना प्रकार के ग्रन्थ लिखकर अपना नाम अजरामर करने का प्रयत्न करते थे। राजाओं के यहाँ उनको आश्रय मिलता था; अतएव जीविका का प्रबन्ध हो जाने से वे लोग स्वच्छन्दतापूर्वक पुस्तकावलोकन और पुस्तक-निर्म्माण में अपना समय व्यतीत करते थे। प्रायः कोई भी माण्डलिक राजा ऐसे न थे जिनकी सभा में एक एक दो दो संस्कृत के विद्वान् और कवि न रहे हों। इस पर भी संस्कृत भाषा में जीवनचरितों की इतनी कमी देखकर आश्चर्य्य होता है। प्रत्येक राजा के आश्रित कवि अथवा विद्वान् पण्डित यदि अपने आश्रय देनेवाले का चरित लिखते तो उसके साथ वे अपना भी नाम चिरस्मरणीय कर जाते। जीवनचरितों का प्रायः अभाव सा देखकर यह अनुमान होत है कि विक्र-माङ्कदेवचरित के समान ग्रन्थ यदि लिखे गये थे

तो दो चार को छोड़ कर शेष सब राजविप्लव में नष्ट हो गये; अथवा मनुष्यों के चरित की ओर लोगों की अनास्था के कारण किसी ने उनके प्रचार का प्रयत्नही नहीं किया; अतएव उनकी हस्त-लिखित प्रतियाँ जहाँ की तहाँ हीं पड़े पड़े नष्ट हो गईं। यदि इस प्रकार के ग्रन्थ लिखेही नहीं गये तो उसका यह कारण हो सकता है, कि प्राचीन कवि और विद्वान्, पौराणिक पुरुषों ही को आदर की दृष्टि से देखते थे और उन्हीं को इस योग्य समझते थे, कि उनके विषय में वे कविता लिखें और उसके द्वारा अपनी वाणी को पवित्र करें। लौकिक पुरुषों का चरित लिखना शायद उन्होंने अपनी कवित्व शक्ति और विद्वत्ता का अपव्यय करना समझा था। इसीसे शायद पौराणिक पुरुषों के सम्बन्ध में सैकड़ों काव्य पाये जाते हैं पर दूसरों के सम्बन्ध में उनका प्रायः अभाव सा है। प्राचीन पण्डितों ने राम, कृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर, नल, पतञ्जलि इत्यादि ही के चरित को ग्रन्थबद्ध करने के योग्य समझा है; दूसरों के चरित को नहीं। इन पुरुषों के चरित में अनेकानेक आश्चर्य्यदायक और उपदेशपूर्ण बातों के कहने का अवसर मिलने और सर्वसाधारण की

इन पर विशेष आस्था होने से शायद उन्होंने अपने ग्रन्थों के अधिक लोकप्रिय होने की सम्भावना समझी। अस्तु।

विक्रमाङ्कदेवचरित, जिस पर हम यह निबन्ध लिख रहे हैं, जीवनचरितों में गिना तो अवश्य जा सकता है; परन्तु उसमें चरितसम्बन्धी सामग्री बहुत नहीं है। कवि ने साहित्य-शास्त्र के नियमों का अनुसरण करके सर्ग के सर्ग ऋतु, जल-विहार, वाटिका-विहार, सायं और प्रातःकाल आदि के वर्णन से भर दिये हैं। इस काव्य में सब १८ सर्ग हैं; उनमें से यदि कवि अप्रासङ्गिक बातों का वर्णन न करता तो केवल आठ नौ सर्ग में पुस्तक समाप्त हो गई होती। सातवें से तेरहवें सर्ग तक की तो कोई आवश्यकता ही न थी; उनके न होने से विक्रमाङ्क के चरित-वर्णन में कुछ भी न्यूनता न आती। परन्तु ऋतु और नायिका के सर्वाङ्ग आदि का वर्णन महाकाव्य का लक्षण माना गया है; इस लिए बिल्हण को इतने सर्ग और बढ़ाने पड़े। आदि से लेकर अन्त तक इस काव्य के लिखे जाने की प्रणाली ऐसी आलङ्कारिक और अतिशयोक्तियों से पूर्ण है कि

कहीं कहीं वर्णन करने के योग्य मुख्य मुख्य बातें भी छूट गई हैं और यदि नहीं भी छूटीं तो अप्रासङ्गिक विषयों के वर्णन से ऐसी ढक सी गई हैं कि उनका पता लगाना कठिन सा हो गया है। एक जगह लिखा है कि विक्रमाङ्कदेव ने अपने प्रतिपक्षी चोल देश के राजा का पूरा पूरा पराभव करके उस देश को अपने अधीन कर लिया। आगे थोड़ी दूर जाकर उसी चोल देश पर विक्रमाङ्कदेव की दूसरी चढ़ाई का वर्णन है। पर कवि ने सन् संवत नहीं दिया कि कौन बात किस समय हुई। कहीं लिख दिया, 'कुछ दिन के अनन्तर'; कहीं, 'बहुत दिन के अनन्तर'; कहीं कुछ, कहीं कुछ। विक्रमाङ्कदेव और उसके पिता आहवमल्ल की कवि ने ऐसी प्रशंसा की है जिसका ठिकाना नहीं। वे राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, नल और दुष्यन्त के समान आदरणीय, दोषरहित, वीर और विजयी बतलाये गये हैं। आहवमल्ल के पिता जयसिंह के विषय में तो बिल्हण ने यहाँ तक लिखा है कि इन्द्र ने अपने हाथ से उसके कण्ठ में पारिजात की माला पहना दी—

यशोवतंसं नगरं सुराणां कुर्वन्नगर्वः समरोत्सवेषु ।
न्यस्तां स्वहस्तेन पुरन्दरस्य यः पारिजातस्रजमाससाद ॥
सर्ग १, पद्य ८६ ।

लीजिए पारिजात की माला जयसिंह के गले में पड़ गई । विक्रमाङ्कदेव के आश्रय में रह कर उसकी और उसके वंशजों की स्तुति करना कवि का धर्म्म था; यह हमने माना; परन्तु फिर भी योग्यायोग्य का विचार करना भी उचित था। नितान्त असम्भव बातों का ऐतिहासिक काव्यों में न वर्णन करना ही अच्छा था । बात यह है कि, जिस दृष्टि से हम लोग इन काव्यों को अब देखते हैं उस दृष्टि से उस समय लोग न देखते थे। काव्य चाहे ऐतिहासिक हो, चाहे पौराणिक, चाहे काल्पनिक, उसे कवि लोग साहित्यशास्त्र के ही नियमानुसार लिखते थे और सम्भावना अथवा असम्भावना का विचार न करके नायक के चरित को, जहाँ तक उनसे हो सकता था तहाँ तक, उच्च से उच्च करके दिखलाते थे। जान पड़ता है, इन्हीं कारणों से बिल्हण ने चालुक्य-वंशीय राजाओं को अमानुषी कृत्य करनेवाले बतलाया है । अस्तु; अप्रासङ्गिक बातों और

अत्युक्तियों को निकाल डालने पर भी विक्रमाङ्कदेवचरित में, फिर भी, बहुत कुछ ऐतिहासिक तत्त्व शेष रह जाता है। और जो कुछ रह जाता है वह काल्पनिक नहीं किन्तु यथार्थ है। उसकी सत्यता का प्रमाण चालुक्यों के उन शिलालेखों और ताम्रपत्रों में मिलता है जो कल्याण में पाये गये हैं। इन लेखों में चालुक्य-वंश के राजाओं की जो नामावली इत्यादि है वह विक्रमाङ्कदेवचरित की नामावली से मिलती है। इसके अतिरिक्त और और बातें भी जो उनमें पाई जाती हैं वे प्रायः सभी बिल्हण के काव्य में वर्णन की गई हैं। इसीलिए, प्राचीन इतिहास के रूप में, विक्रमाङ्कदेवचरित, दोषों के रहते भी, बहुत ही उपयोगी है। उसकी उपयोगिता ही का विचार करके डाकृर बूलर ने उसे बड़े परिश्रम से सम्पादित और अपनी लम्बी चौड़ी भूमिका के साथ प्रकाशित किया है। इस निबन्ध के लिखने में डाकृर साहब की भूमिका से हमको बहुत सहायता मिली है। बहुत सी सामग्री हमने उसीसे ली है।

विक्रमाङ्कदेवचरित में एक बात यह सब से अच्छी है कि कवि ने इसमें अपना, अपने कुटुम्ब

का और अपने देश का बहुत कुछ वृत्तान्त दिया है। काव्य का अन्तिम सर्ग का सर्ग इस प्रकार के वर्णन से परिपूर्ण है। अतः विक्रमाङ्कदेव और उसके पूर्वजों के विषय में कुछ कहने के पहले हम बिल्हण का थोड़ा सा वृत्तान्त देना चाहते हैं।

बिल्हण की आत्म-कथा।

कवि ने इस काव्य के अन्तिम सर्ग में पहले काश्मीर की प्राचीन राजधानी का, फिर उसके दो एक राजाओं का, फिर अपने पूर्वजों का, और तदनन्तर अपना चरित संक्षेप से लिखा है। यहाँ पर, हम, पहले बिल्हण की कही हुई कथा का सारांश देकर, फिर उसके कथन का यथामति विचार करेंगे। कवि कहता है—

काश्मीर के नगरों में प्रवरपुर नामक मुख्य नगर है। वह वितस्ता (झेलम) और सिन्धु के सङ्गम पर बसा है। वह संसार के अन्यान्य नगरों से ही बढ़ कर नहीं; कुवेर की नगरी, लङ्का और अमरावती भी उसके सामने कोई वस्तु नहीं। वह अत्यन्त पवित्र पुरी है; वहाँ के ब्राह्मण महा विद्वान् हैं; वहाँ उष्णता कभी किसी को नहीं

सताती। वहाँ की स्त्रियाँ परम सुन्दरी हैं ; विदुषी भी हैं ; वे संस्कृत श्रौर प्राकृत दोनों बिना प्रयास बोल सकती हैं। वहाँ भट्टारक-मठ, संग्रामक-क्षेत्र-मठ श्रौर क्षेमगौरीश्वर का मन्दिर इत्यादि स्थल दर्शनीय हैं। वहाँ केसर श्रौर श्रंगूर बहुत उत्पन्न होते हैं ; ब्राह्मणों के यहाँ सदा अग्निहोत्र हुआ करता है, नाटकालयों में स्त्रियों को अभिनय करते देख रम्भा, चित्रलेखा श्रौर उर्वशी आदि अप्सरायें लज्जित होकर सिर नीचा कर लेती हैं।

उस प्रवरपुर में अनन्तदेव नामक राजा हो गया है। वह बड़ा सत्यवक्ता, बड़ा उदार श्रौर बड़ा वीर था। उसने शकों को परास्त किया ; गङ्गा के किनारे तक चढ़ाई की ; श्रौर मानस सरोवर तक के दर्शन किये। चम्बा श्रौर त्रिगर्त इत्यादि प्रसिद्ध नगरों को उसने अपने अधीन किया। उसकी रानी का नाम सुभटा था। वह बड़ी दयावती, बुद्धिशीला श्रौर उदार थी। कुटिल लेखों के लिखने वाले न तो कायस्थ ही उसके पास से फूटी कौड़ी पा सके श्रौर झूटी सच्ची बातों के बनानेवाले न .खुशामदी विटोंही ने उससे एक पैसा पाया। उसने अपना सारा धन ब्राह्मणों को,

पण्डितों को और देवालयों ही को समर्पण किया। उसने वितस्ता के किनारे एक बहुत ही मनोहर शिवालय निर्म्माण कराया और एक महाविद्यालय भी अपने नाम से बनवाया। महारानी सुभटा के भाई का नाम क्षितिपति था। वह लोहर का राजा था। वह वीरता में भी अद्वितीय था और कवियों का सम्मान करने में भी।

सुभटा से अनन्तदेव का पुत्र कलश हुआ। उसने बाण कवि की बनाई कादम्बरी में उल्लिखित अच्छोद सरोवर को देखा; कैलाश के दर्शन किये; और यक्षों की नगरी अलका तक में प्रवेश किया। जब वह वहाँ से लौटा तब मानस सरोवर से कंचन के अनेक कमल अपने साथ लाया। स्त्री-राज्य को जीत कर वह चन्द्रभागा और यमुना के आगे कुरुक्षेत्र तक चला गया और उसे उसने अपने अधीन कर लिया।

कलश ने अपने पुत्र का नाम हर्षदेव रक्खा। हर्षदेव वीरों में अग्रणी हुआ और कविता में श्रीहर्ष से भी बढ़ गया। उसने अनेक भाषाओं में कविता की। कलश के दो पुत्र और हुए, एक का नाम उत्कर्ष; दूसरे का विजयमल्ल।

काश्मीर और काश्मीर के इतने राजाओं का वृत्तान्त लिख कर कवि अब अपने पूर्वजों का और अपना चरित वर्णन करता है।

प्रवरपुर से तीन मील के अन्तर पर जयवन नामक एक स्थान है। उसी के निकट खोनमुख नामक ग्राम है। उस ग्राम के चारों ओर केसर और अंगूर अधिकता से उत्पन्न होते हैं। वहाँ कुछ कौशिकगोत्रीय ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण निवास करते हैं। काश्मीर को पवित्र करने ही के लिए माना उन्हें महाराज गोपादित्य ने मध्यदेश से लाकर बसाया है। उन ब्राह्मणों में अपने सद्गुणों से त्रिलोकी को पवित्र करनेवाला मुक्तिकलश नामक एक पवित्र ब्राह्मण हुआ। अग्निहोत्र करते समय उसके शरीर से पसीने की जो धारायें निकलीं उन्होंने कलियुग के कलुषरूपी धब्बों को धो सा डाला। चारों वेदों ने आकर उसके मुख-कमल में अपना घर बनाया। उसका पुत्र राजकलश हुआ। उसकी उदारता का अन्त न था। श्रुतियाँही उसका सर्वस्व थीं। उसके पुत्र का नाम जेष्ठकलश हुआ। वह दया का समुद्र, साहित्यशास्त्र की जन्मभूमि, और शब्दशास्त्र का आचार्य हुआ। उसने व्याकरण के महाभाष्य की

टीका बनाई । उसकी सभा अनेक विद्यार्थियों से पूर्ण रहती थी । उसकी स्त्री का नाम नागादेवी था ।

उस महात्मा के बिल्हण नामक पुत्र हुआ । जब से उसने मूंज की मेखला धारण की तभी से वेद की ऋचाओं के चित्र विचित्र उच्चारण के बहाने सरस्वती का कङ्कण उसके मुख में बजने लगा । सांग वेद, सांग व्याकरण और सम्पूर्ण साहित्य-शास्त्र उसके सर्वस्व हुए । उसकी विद्वत्ता की थाह लेना असम्भव हुआ । सच तो यह है कि ऐसा कोई भी विषय न था जो उसके बुद्धिरूपी निर्दोष दर्पण में प्रतिबिम्बित न हुआ हो । उसकी सरस और मधुर कविता उसकी कीर्ति के साथ देशदेशान्तरों में व्याप्त हो गई । उसके बड़े भाई का नाम इष्टराम था । अनेक राजाओं की सभाओं का वह आभूषण था । वह भी महाविद्वान् और महाकवि था । उसके छोटे भाई का नाम आनन्द था । उसके साथ विवाद करनेवाले कवियों की कीर्ति उसकी उक्तिरूपी कुल्हाड़ी से कट जाने पर फिर कभी न जुड़ सकी ।

काश्मीर में अपनी कीर्ति को सब ओर फैला कर बिल्हण ने देशान्तर के लिए प्रस्थान किया ।

पांचाल देश से होते हुए वह मथुरा पहुँचा; वहाँ पण्डितों को पराजय देकर कुछ दिन वृन्दावन में उसने निवास किया। ग्रामों में, नगरों में, राजस्थानों में, बस्तियों में और जङ्गलों में, बुद्धिमान् और मूर्ख, युवा और जरठ, स्त्री और पुरुष सब ने उसकी कविता को प्रेम से पाठ किया और पाठ करते करते वे आनन्द से उन्मत्त हो उठे। उसकी कीर्ति कान्यकुब्ज तक पहुँची और वहाँ से प्रयाग गई। इन दोनों स्थानों में उसने कुछ काल तक निवास किया। जो कुछ द्रव्य उसने अपने अपूर्व गुणों से सम्पादन किया था उसे उसने प्रयाग में दान कर दिया।

वहाँ से वह काशी पहुँचा। काशी में दुश्शील राजाओं के मुखावलोकन से उत्पन्न हुए पापों को उसने भागीरथी में धो डाला। कालिंजर के राजा पर विजय प्राप्त करने वाले दाहल के अधीश्वर कर्ण से जब उसकी भेंट हुई तब दाहल-नरेश ने उसके कविता-पीयूष को आकण्ठ पान किया। दाहल-नरेश के यहाँ प्रसिद्ध कवि गङ्गाधर को उसने परास्त किया। तदनन्तर अपनी वाग्धारा से अयोध्या को शीतल करके वह गुर्जरदेश की ओर गया; परन्तु

भोज की राजधानी धारा को वह न जा सका। मार्ग में कक्षाहीन, अपवित्र और अनुचित शब्दों को उच्चारण करने वाले गुर्जर-निवासियों को देखने से जो सन्ताप हुआ था उसका परिहार उसने सोम-नाथ के दर्शनों से किया। शतशः राजाओं से मिलने की इच्छा से उसने दक्षिण की ओर यात्रा की। वह रामेश्वर तक गया। वहाँ से वह पीछे लौटा और छोटे छोटे राजाओं की ओर दृक्पात भी न करके केवल बड़े बड़े नरेशों की सभा को उसने अपने गमन से अलङ्कृत किया। इस प्रकार दक्षिणायुध में पर्य्यटन करते करते चालुक्य-वंशीय महाराज विक्रमाङ्कदेव की सभा में वह पहुँचा। वहाँ उसका सब से अधिक सम्मान हुआ; और उसे विद्यापति की पदवी मिली। तब से वह अनेक प्रकार के ऐश्वर्य्यों को भोग करते हुए वहाँ रहने लगा। उस के यश की कहानियाँ दिग्गजों ने भी आनन्द से उन्मत्त होकर सुनीं। उस ने कर्णाटक के अधिपति विक्रमाङ्क अथवा विक्रमाङ्कदेव के लिए अपने प्रेम का उपहाररूपी यह काव्य बनाया। ईश्वर करे यह बुद्धिमानों के कण्ठ का आभूषण हो।

अभी तक बिल्हण ने अपने विषय में जो कुछ कहा सब तृतीय-पुरुष में कहा ; अब अपने आत्म-चरित का अन्त आप प्रथम-पुरुष में करते हैं—

सब कहीं मैंने अनन्त सम्पत्ति सम्पादन की ; सब कहीं मुझे पुण्यात्माओं के मिलने योग्य वर और आशीर्वाद मिले ; विपक्षियों के साथ विवाद करने में, सब कहीं, मेरा जय हुआ । 'अब मेरी यह इच्छा है कि, शीघ्र ही, मैं अपने देश के काश्मीरक विद्वानों से वार्तालाप करूँ । मैं राजाओं की कृपा का पात्र हुआ ; मेरा वैभव भी बहुत बढ़ा ; शास्त्रा-वलोकन भी मैंने किया ; प्रतिपक्षियों को परास्त भी मैंने किया । अब मेरी इच्छा भगवती जाह्नवी के दर्शन करने की है । हे नरपतिगण ! लक्ष्मी बिजली के समान चञ्चल है ; वह किसी प्रकार स्थिर नहीं की जा सकती । मृत्यु की भूचक दुन्दुभी, सब काल, सबके सिर पर बजा करती है । इसलिए सच्चे कवियों का सत्कार करो ; वही तुम्हारे कीर्तिरूपी शरीर की रक्षा करेंगे । उनसे विरोध करना छोड़ो ; उन्हीं की कृपा से तुम्हारा यश सब ओर फैलता है । देखो, प्रसन्न होकर कवियों ने राम के चरित को अजरामर कर दिया, और

अप्रसन्न होकर त्रैलोक्य-विजयी दस सिरवाले रावण की कीर्ति के। धूल में मिला दिया !

यहाँ बिल्हण की आत्मकथा समाप्त हुई।

बिल्हण ने अपने मुख से अपना जो चरित्त वर्णन किया है उससे यह सिद्ध है कि वह प्रवर-पुर से तीन मील दूर खोनमुख ग्राम में उत्पन्न हुआ था। उसके प्रपितामह का नाम मुक्तिकलश और पितामह का राजकलश था। वे दोनें अग्निहोत्री थे और वेदें में पारङ्गत थे। उसके पिता का नाम जेष्ठकलश था। उसने व्याकरण के महाभाष्य की टीका लिखी है। इस टीका का अभी तक पता नहीं लगा; और न अन्यत्र कहीं उसका नाम सुनने में आया। बिल्हण की माता का नाम नागादेवी था। उसके दे। भाई और थे—बड़े का नाम इष्टराम और छोटे का आनन्द। वे दोनें विद्वान् और पण्डित थे। बिल्हण ने काश्मीरही में विद्याध्ययन किया। विशेष करके वेद, व्याकरण और अलङ्कार-शास्त्र में उसने प्रवीणता प्राप्त की।

जैसे इस समय पण्डित लोग अपने विद्याध्ययन की समाप्ति करके धनप्राप्ति की इच्छा से देश देशान्तरें में घूमने के लिए निकलते हैं, और दक्षिणा

के लोभ से एक राजा की सभा से दूसरे राजा की सभा में जाते हैं, उसी प्रकार बिल्हण के समय में भी कवि और पण्डित अपनी विद्या और कविता का परिचय देते हुए और विवाद करने की इच्छा रखने वाले पण्डितों से शास्त्रार्थ करते हुए दूर देशों को चले जाया करते थे। इस प्रकार के देशाटन में अर्थ की भी प्राप्ति होती है और तीर्थ तथा देवदर्शन से धर्म की भी। इन्हीं कारणों से बिल्हण ने भी काश्मीर छोड़ कर इस देश के और और भागों में पर्य्यटन किया।

काश्मीर छोड़कर पाञ्चाल होते हुए बिल्हण पहले मथुरा पहुँचे। वहाँ से गङ्गा को पार करके वह क़न्नौज गये; वहाँ से प्रयाग; और प्रयाग से काशी। काशी से आगे पूर्व की ओर वह नहीं बढ़े। वहाँ से दक्षिण की ओर वह राजा कर्ण के यहाँ आये। इस कर्ण की राजधानी दाहल में थी। किसी किसी का यह मत है कि चेदी अर्थात् चँदेरों ही का दूसरा नाम दाहल है। कुछ भी हो दाहल, बुँदेलखण्डही का कोई प्राचीन राजस्थान जान पड़ता है; क्योंकि, उसके राजा (कर्ण) के द्वारा कालिञ्जर का विजय किया जाना वर्णित है। कालिञ्जर, बाँदा के पास

है; वहाँ का प्राचीन क़िला अब तक वर्त्तमान है। दाहल के आगे बिल्हण ने अयोध्या का नाम लिखा है; परन्तु काशी से उतनी दूर दक्षिण आकर फिर उत्तर की ओर अयोध्या जाना असम्भव सा जान पड़ता है। बिल्हण ने अपनी वाग्धारा से अयोध्या का पवित्र किया जाना जो लिखा है उससे शायद किसी कविता से अभिप्राय है। सम्भव है, राजा कर्ण के यहाँ वह बहुत दिन तक रहे हों और वहाँ रामचन्द्र के सम्बन्ध में उन्होंने कोई काव्य लिखा हो। दाहल से धारानगरी बहुत दूर न थी; परन्तु भोज की कीर्ति को सुनकर भी बिल्हण वहाँ नहीं गये। प्राचीन शिलालेखों से विदित है कि अणहिलवाद के राजा भीमदेव प्रथम और कर्ण ने मिल कर पीछे से भोज पर चढ़ाई की थी। सम्भव है कर्ण के और भोज के बीच में वैमनस्य होने ही के कारण बिल्हण धारा को न गये हों। कर्ण की राजधानी को छोड़ कर बिल्हण अणहिल-वाद होते हुए सोमनाथ को गये और वहाँ से वेरावल में जहाज़ पर चढ़ कर दक्षिण भारतवर्ष के लिए उन्होंने प्रस्थान किया। यह नहीं कह सकते कि दक्षिण में कहाँ पर वह जहाज़ से उतरे।

सम्भव है कोङ्कन में गोकर्ण के पास हनोर में वह उतरे हों। वहाँ वह बहुत काल तक दक्षिण में घूमते रहे और घूमते घूमते रामेश्वर तक पहुँचे। वहाँ से लौटने पर कल्याण में विक्रमाङ्कदेव के यहाँ उन्हें आश्रय मिला; और वहीं उन्होंने विद्यापति की पदवी पाई। जान पड़ता है, वृद्धावस्था तक बिल्हण कल्याण ही में रहे, क्योंकि अपने आत्मचरित में गङ्गा के तट पर निवास करने की उन्होंने अभिलाष प्रकट की है। इससे यह भी सिद्ध होता है, कि बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरित की रचना वृद्धावस्था में की।

विक्रमाङ्कदेव का दूसरा नाम विक्रमादित्य भी था। उसने १०७६ से ११२७ ईसवी तक कल्याण में राज्य किया इस बात से और काश्मीर के राजा अनन्त, कलश और हर्ष के वर्णन से प्रमाणित होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बिल्हण ने देश-पर्य्यटन किया। बिल्हण ने जहाँ पर काश्मीर के राजा अनन्त का वर्णन किया है वहाँ 'आसीत्' इस भूतकालिक क्रिया का प्रयोग किया है, जिससे सूचित होता है कि, जिस समय विक्रमाङ्कदेवचरित लिखा गया, उस समय अनन्त की मृत्यु हो चुकी थी।

राजतरङ्गिणी में लिखा है कि ३५ वर्ष राज्य करके अनन्त ने अपने पुत्र कलश को सिंहासन पर बिठाया। यद्यपि उसने अपने पुत्र को राजा बनाया तथापि और १५ वर्ष तक वह राज्य-कार्य देखता रहा। तदनन्तर अपने पुत्र की दुःशीलता से तंग आकर वह विजयक्षेत्र को चला गया। विजयक्षेत्र जाकर, अपने पुत्र के द्वारा बहुत सताये जाने पर उसने आत्महत्या कर ली। जनरल कनिंहाम के अनुसार अनन्त १०२८ ईसवी में सिंहासन पर बैठा और १०८० में मृत्यु को प्राप्त हुआ। कलश को यद्यपि १०६२ ईसवी में राज-गद्दी हुई, तथापि उसने राज्य का काम काज अनन्त के विजयक्षेत्र चले जाने के अनन्तर, अर्थात् १०८० ईसवी में, आरम्भ किया। इससे सिद्ध है, कि विक्रमाङ्क-देवचरित की रचना बिल्हण ने १०८० ईसवी के अनन्तर की। यदि ऐसा न होता तो वह अनन्त के लिए आसीत् 'अर्थात्' 'था' का प्रयोग न करता। इसका प्रमाण और भी दो बातों से मिलता है। एक तो यह, कि विक्रमाङ्क-देवचरित में उस चढ़ाई का वर्णन नहीं है जो विक्रमादित्य ने नर्मदा के इस पार मध्यभारत

पर, १०८८ ईसवी में, की थी। इस चढ़ाई का वृत्तान्त एशियाटिक सोसायटी के जरनल के चौथे भाग में दिया हुआ है। यदि विक्रमाङ्कदेव-चरित लिखने के पहले ही विक्रमने यह चढ़ाई की होती तो बिल्हण ने अपने काव्य में उसका उल्लेख अवश्य किया होता। इस विषय का दूसरा प्रमाण राजतरङ्गिणी का सातवाँ तरङ्ग है। वहाँ ये तीन श्लोक हैं—

काश्मीरेभ्यो विनिर्यान्तं राज्ये कलशभूपतेः।
विद्यापतिं यं कर्णाटश्चक्रे पर्माडिभूपतिः॥ ९३६॥
प्रसर्पतः करटिभिः कर्णाटकटकान्तरे।
राज्ञोऽग्रे ददृशे तुङ्गं यस्यैवातपवारणम्॥ ९३७॥
त्यागिनं हर्षदेवं स श्रुत्वा सुकविबान्धवम्।
बिल्हणो वञ्चनां मेने विभूतिं तावतीमपि॥ ९३८॥

अर्थात् महाराज कलश के समय में बिल्हण ने काश्मीर छोड़ा। कर्णाटक के पर्माडि-नरेश ने उसे अपना प्रधान पण्डित बनाया। जब वह हाथी पर सवार होकर कटक में चलता था तब वहाँ के राजा के आगे उसके शीश पर छत्र दृष्टिगोचर होता था। उसने जब यह सुना कि महादानी काश्मीर-नरेश हर्षदेव कवियों को अपने बन्धु के

समान जानते हैं तब महाराज कर्णाटक की दी हुई उस विशेष विभूति को भी उसने वञ्चना समझा।

कल्याण के त्रिभुवनमल्ल विक्रमादित्य ही का दूसरा नाम पर्माडि है। अतएव यदि बिल्हण ने हर्षदेव का सिंहासन पर आसीन होना देखा तो यह निःसंशय सिद्ध हो गया कि उसने १०८८ ईसवी के पहले ही विक्रमाङ्कदेवचरित की रचना की।

राजतरङ्गिणी के तीन श्लोक, जो ऊपर दिये गये वे, उस समय की सूचना देते हैं जिस समय (अर्थात् १०६२ से १०८० तक) कलश नाम मात्र का राजा था। बिल्हण ने उसी बीच में काश्मीर छोड़ा होगा; उस समय नहीं जिस समय कलश ने राज्य का सूत्र अपने हाथ में ले लिया था; क्योंकि बिल्हण ने भारतवर्ष के अनेक भागों में भ्रमण किया है और विक्रमाङ्कदेवचरित लिखने के पहले कई वर्ष तक वह कल्याण में रहा है। ये सब बातें आठ वर्ष, अर्थात् १०८० ईसवी से १०८८ ईसवी के अभ्यन्तर, में न हुई होंगी। इन कारणों से यह अधिक सम्भव जान पड़ता है कि जिस समय कलश को नाम मात्र के लिए राज्य की प्राप्ति हुई थी उसी समय अर्थात्

१०६२ ईसवी के कुछ काल पीछे, बिल्हण ने काश्मीर से प्रयाण किया। बीस पच्चीस वर्ष का समय एक काश्मीरी पण्डित के लिए भारत-वर्ष में घूमने और कल्याण में बहुत दिन तक रहने के लिए अधिक नहीं है। बिल्हण के कथन से सिद्ध है कि उसने विद्याध्ययन समाप्त करके काश्मीर से प्रस्थान किया। और विक्रमाङ्कदेव-चरित के अन्त में लिखा है कि उसने संसार के सब सुख भाेग लिये; अतएव अब विरक्त के समान गङ्गा-तट पर वास करने की उसकी इच्छा है। उक्तियों से जाना जाता है कि विक्रमाङ्क-देवचरित को समाप्त करने के समय बिल्हण वृद्धावस्था को अवश्य पहुँच गये थे। यदि अधिक नहीं ताे बिल्हण की उम्र उस समय ५० वर्ष की अवश्य रही हाेगी। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

जो कुछ यहाँ तक लिखा गया उससे, हमारी समझ में, यह प्रमाणित होता है कि, बिल्हण ने अपना देश १०६५ ईसवी के लग भग छोड़ा और विक्रमाङ्कदेवचरित की रचना प्रौढ़ वय को प्राप्त होने पर, १०८५ ईसवी के लग भग, की।

विक्रमाङ्कदेवचरित के सिवा बिल्हण ने और भी ग्रंथ लिखे हैं; परन्तु उनका पता अभी तक नहीं लगा। शार्ङ्गधर-पद्धति में बिल्हण के नाम से अनेक पद्य उद्धृत हैं, जो इस काव्य में नहीं पाये जाते। इससे जान पड़ता है कि बिल्हण ने और कई ग्रंथों की रचना अवश्य की है। प्रोफ़ेसर आफ़रेट का मत है कि बिल्हण ने अलङ्कार-शास्त्र का भी एक ग्रंथ लिखा है।

विक्रमाङ्कदेवचरित के मिलने के पहले बिल्हण का नाम एक और छोटी सी पुस्तक के द्वारा पण्डितों को विदित था। इस पुस्तक का नाम बिल्हण-पञ्चाशिका है। कहीं कहीं इसका नाम चौर-पञ्चाशिका भी लिखा है। इस पञ्चाशिका की किसी किसी हस्त-लिखित पुस्तक में एक आख्यायिका है जिसे हम यहाँ पर देना उचित समझते हैं। वह इस प्रकार है—

गुजरात के राजा वीरसिंह के चन्द्रलेखा अथवा शशिकला नाम की एक कन्या थी। बिल्हण उसे पढ़ाते थे। दैवयोग से शशिकला और बिल्हण में परस्पर प्रेम हो गया और बिल्हण ने उसके साथ गान्धर्व विवाह कर लिया। जब यह समाचार

वीरसिंह को मिला तब उसने क्रोध में आकर बिल्हण को प्राणदण्ड देने की आज्ञा दी। बिल्हण ने शशिकला के स्मरण में वधस्थान को जाते जाते यह पञ्चाशिका बनाई। इस कविता का वृत्तान्त किसी प्रकार वीरसिंह तक पहुँचा और उसने कविता की अपूर्वता से अत्यन्त प्रसन्न होकर बिल्हण का अपराध क्षमा कर दिया। यही नहीं, किन्तु, अपनी कन्या का विधिपूर्वक उनके साथ विवाह भी कर दिया। अण्हिलवार (अन्हिलव) वाड़ में वीरसिंह नाम का एक राजा अवश्य हो गया है; परन्तु फार्ब्स साहब की रासमाला के अनुसार उसकी मृत्यु ९२० ईसवी में, अर्थात् बिल्हण के १०० वर्ष पहले ही, हो चुकी थी। इसलिए वीर-सिंह के यहाँ बिल्हण का रहना असम्भव सिद्ध होता है। अपने आत्मकथन में भी बिल्हण ने वहाँ रहने का उल्लेख नहीं किया।

किसी किसी पुस्तक में लिखा है कि बिल्हण ने मदनाभिराम नामक राजा की यामिनीपूर्ण-तिलका नामक कन्या के ऊपर यह पञ्चाशिका बनाई है। वहीं यह भी लिखा है कि, यह राजा पाञ्चालदेश के लक्ष्मीमन्दिर नामक नगर में हुआ

है; परन्तु इतिहास में अथवा शिलालेखों में आज तक इस राजा का नाम कहीं नहीं पाया गया। कोई कोई यह कहते हैं कि इस पञ्चाशिका का कर्ता चौर नामक कोई कवि हो गया है, परन्तु इसका भी प्रमाण कहीं नहीं पाया जाता।

"रहस्यसन्दर्भ" में लक्ष्मीमन्दिर की राजपुत्री यामिनीपूर्णतिलका का उल्लेख करके उसके और बिल्हण के स्नेह-संरम्भ की आख्यायिका एक दूसरे ही प्रकार से वर्णन की गई है। उसमें लिखा है कि मदनाभिराम राजा ने बिल्हण को अपनी कन्या का शिक्षक नियत करना चाहा; परन्तु जिसमें वे दोनों एक दूसरे को परस्पर देख न सकें, इसलिए बिल्हण से यहा कहा, कि यामिनी-पूर्णतिलका कुष्ठ रोग से पीड़ित है और अपनी कन्या से यह कहा कि बिल्हण अन्धा है। यह कह कर दोनों के बीच में पर्दा डाल कर अध्ययन और अध्यापन कार्य्य उसने आरम्भ कराया। राजपुत्री बड़ी बुद्धिमती थी; अतएव थोड़े ही दिनों में वह नानालङ्कार और नाना-भाव-समन्वित काव्यादि में निपुण हो गई। एक बार सायङ्काल, पौर्णमासी के चन्द्रमा को देख कर, बिल्हण ने इस प्रकार कविता की—

नेदं नभो मण्डलमिन्दुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नायं कलङ्कः शयितो मुरारिः ॥

अर्थात् यह आकाश-मण्डल नहीं है; समुद्र है। ये तारे नहीं हैं; फेन के टुकड़े बिखरे हैं। यह चन्द्रमा भी नहीं है; कुण्डलना किये हुए शेष बैठा है। यह कलङ्क भी नहीं है; विष्णु सो रहे हैं!

इसके आगे एक और श्लोक बिल्हण ने इस प्रकार कहा—

इन्दुमिन्दुमुखि ! लोकय लोकं; भानुभानुभिरमुं परितप्तम् ।
वीजितुं रजनिहस्तगृहीतं; तालवृन्तमिव नालविहीनम् ॥

अर्थात् हे चन्द्रमुखि! चन्द्रमा को देख। सूर्य की किरणों से सन्तप्त हुए संसार को शीतल करने के लिए, रात्रि ने, बिना नाल के ताड़ के पंखे के समान, माने उसे हिलाने के लिए अपने हाथ में ग्रहण किया है!

इस प्रकार बिल्हण की अपूर्व कविता को सुन कर राजकन्या को विदित हो गया कि बिल्हण अन्धा नहीं है; उस विषय में उसके पिता ने उससे प्रतारणा की है। अतएव उसने बिल्हण को देखा। उस दिन से परस्पर दोनों में प्रेम-सम्भाषण होने

लगा। कुछ दिन बाद दोनों का गान्धर्व-विवाह हो गया। जब यह गुप्त रहस्य राजा को विदित हुआ तब उसने बिल्हण के वध किये जाने की आज्ञा दी। इस पञ्चाशिका को बिल्हण ने वधस्थल ही में बनाया।

बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरित के अठारहवें सर्ग में इन आख्यायिकाओं से सम्बन्ध रखनेवाली न तो कोई बात ही कही, और न लक्ष्मी-मन्दिर को जाने अथवा वहाँ रहने ही का कोई उल्लेख किया। अतएव इस आख्यायिका की सत्यता अथवा असत्यता का निर्णय करना हम विचारवान् वाचकों हीं पर छोड़ते हैं। इस पञ्चाशिका की कविता विक्रमाङ्कदेवचरित की कविता से कुछ मिलती है। शार्ङ्गधर-पद्धति के कर्ता शार्ङ्गधर ने उस ग्रंथ में इस पञ्चाशिका से कई पद्य उद्धृत भी किये हैं। शार्ङ्गधर १४ वीं शताब्दी में, अर्थात् बिल्हण के चार ही सौ वर्ष पीछे, हुआ है। वह इसे बिल्हण-कृत ही बतलाता है। अतएव हमें उसके कथन के मानने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती। इस पञ्चाशिका की कविता अत्यन्त ही सरस और हृदयाह्लादकारिणी है। उसकी उक्तियां

से पूर्वोक्त आख्यायिका सत्य प्रतीत होती है। बिल्हण कहते हैं—

अद्यापि तां नृपतिशेखरराजपुत्रीं
सम्पूर्णयौवनमदालसघूर्णनेत्रीम्।
गन्धर्वयक्षसुरकिन्नरनागकन्यां
स्वर्गादहो निपतितामिव चिन्तयामि ॥४५॥

अर्थात् स्वर्ग से गिरी हुई गन्धर्व, यक्ष, देवता, किन्नर अथवा नागकन्या सी पूर्ण-यौवनवती उस राजपुत्री को मैं अब तक (इस घोर विपत्ति के समय में भी) स्मरण कर रहा हूँ।

इससे सिद्ध होता है कि जिसकी चिन्तना बिल्हण को थी वह एक राजा की लड़की थी।

अद्यापि तां स्वभवनान्मयि नीयमाने
दुर्वारभीषणकरैर्यमदूतकल्पैः।
किं किं तया बहुविधं न कृतं मदर्थे
वक्तुं न पार्यत इति व्यथते मनो मे ॥

अर्थात् यमदूतों के समान भयङ्कर हाथोंवाले मनुष्यों (वधिकों) के द्वारा अपने मन्दिर से मुझे लिये जाते देख उसने मेरे बचाने के लिए क्या क्या नहीं किया ? उसका स्मरण होते ही मेरे मन को असह्य वेदना होनेलगती है।

इससे यह सूचित है कि वह बिल्हण वधिकों के द्वारा राजपुत्री के घर से निकाले गये थे। अस्तु। आज तक जो सुनते आये हैं कि "कवयः किन्न जल्पन्ति" उसके साथ ही यह भी कहना चाहिए कि "कवयः किन्न कुर्वन्ति"! वधस्थल में भी जिसकी बुद्धि ठिकाने रह सकती है और जो इस पञ्चाशिका के समान उत्तम कविता कर सकता है उसके महाकवि और महासाहसवान् होने में कोई सन्देह नहीं।

विक्रमाङ्कदेव का संक्षिप्त चरित।

इस काव्य के अठारहवें सर्ग में बिल्हण ने अपना वृत्तान्त लिखा है, और पहले से लेकर सत्रहवें सर्ग तक विक्रमाङ्कदेव और उसके पूर्वजों के चरित की चर्चा की है। विक्रमाङ्क के चरित को जैसा चाहिए वैसा बिल्हण ने नहीं लिखा; बीच बीच में अनेक बातें छोड़ दी हैं। राजाओं के यहाँ इतिहास में लिखी जाने योग्य प्रतिदिन अनेक बातें हुआ करती हैं, परन्तु बिल्हण ने विक्रमाङ्क के वंश का वर्णन करके और थोड़ा सा वृत्तान्त उसके पिता आहवमल्ल का लिख, इस काव्य के नायक विक्रमाङ्क

जन्म उसकी राज्य-प्राप्ति, उसके युद्ध इत्यादि मुख्य ही मुख्य बातों का उल्लेख किया है; शेष काव्य को ऋतुओं के वर्णन, प्रातःकाल, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि के वर्णन और विक्रमाङ्कदेव की रानी के नख-सिख के वर्णन से पल्लवित करते करते उसे समाप्त कर दिया है। तथापि जिन मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख बिल्हण ने किया है वे प्रायः सब सर डबल्यू इलियट के प्रकाशित किये हुए उन शिलालेखों और दानपत्रों से मिलती हैं जो कल्याण के प्राचीन चालुक्यवंशीय राजाओं के समय के अब तक पाये गये हैं। अब, हम, विक्रमाङ्क और उसके वंश का वृत्तान्त, जैसा और जिस क्रम से बिल्हण ने वर्णन किया है, वैसा ही और उसी क्रम से थोड़े में लिखते हैं।

बिल्हण का कथन है कि एक बार ब्रह्मा जिस समय समाधिस्थ थे उस समय इन्द्र उनके पास गये, और जाकर उनसे यह विनती की कि पृथ्वी पर अधर्म की वृद्धि हो रही है; अतएव आप एक ऐसा पुरुष उत्पन्न कीजिए जिससे भयभीत होकर दुराचारी अपने अपने दुराचार को छोड़ दें। यह सुनकर ब्रह्मा ने अपने कमण्डलु की ओर देखा और

उनके देखते ही त्रिलोकी की रक्षा करने योग्य उससे एक वीर पैदा हुआ। उसी पुरुष से चालुक्यों का वंश चला। चालुक्यों का पहला पुरुष हारीत हुआ। इस वंश के राजा लोग पहले अयोध्या में, उसे अपनी राजधानी बनाकर, रहते थे*। उनमें से कई राजा, जिनकी विजय लालसा बड़ी प्रबल थी, विजय करते हुए दूर तक दक्षिण में चले गये। इसी वंश का भूषण तैलप † नाम का एक महा प्रतापी राजा हुआ। वह महावीर था। उसने पृथ्वी के कण्टकरूप राष्ट्रकूट के राजवर्ग को जड़ से उखाड़ डाला।

---

*शिलालेखों से विदित होता है कि अयोध्या और दूसरे नगरों में इस वंश के ५६ राजाओं ने राज्य किया।

† तैलप ने ६७३ से ६६७ तक राज्य किया। एशियाटिक सोसायटी के जरनल में लिखा है कि इस राजा ने मालवा पर चढ़ाई की थी। यह बात भोजचरित में भी लिखी है और शिलालेखों में भी।

शिलालेखों के अनुसार तैलप ने मालवा के राजा मुञ्ज को पकड़ कर मार डाला; परन्तु मुञ्ज के अनन्तर वहाँ के राजा भोज ने उसका बदला तैलप से लिया, अर्थात् उसे उसने युद्ध में मारा। बिल्हण ने तैलप का मालवा पर चढ़ाई करना नहीं लिखा और न उसके मारेजाने की सूचना ही दी। बिल्हण में यह बड़ा दोष है कि अपने चरितनायक के वे गुण ही गुण वर्णन करते हैं और चालुक्य-वंश के प्रतिपक्षियों के चरित का कोयले से भी काला रँगने में वे क़सर नहीं करते।

तैलप के अनन्तर सत्याश्रय* को चालुक्य-वंश की राजगद्दी मिली। वह परशुराम के समान धनुर्विद्या में कुशल था। उसके अनन्तर जयसिंह† वहाँ का राजा हुआ। उसने बहुत दिन तक राज्य किया। उसके कण्ठ में इन्द्र ने अपने हाथ से पारिजात की माला पहनाई।

१०४० से १०६९ ई० तक चालुक्यों की राज्य-लक्ष्मी जयसिंह के पुत्र आहवमल्ल की वशीभूत रही। इसका दूसरा नाम त्रैलोक्यमल्ल भी लिखा है। उसने चोलों को जीता और मालवा की राजधानी धारा पर भी चढ़ाई की। धारा में उस समय, राजा भोज राज्य करता था। भोज को धारा से भागना पड़ा। दाहल के राजा कर्ण का भी अधिकार आहवमल्ल ने छीन लिया। कांची के

---

* सत्याश्रय का राज्य-काल ९९७ से १००८ ई० तक है।

† इस राजा ने १०१८ से १०४० ई० तक राज्य किया। इन्द्र के हाथ से माला पहनाये जाने से बिल्हण का कदाचित् यह अभिप्राय है कि जयसिंह ने युद्ध में प्राण छोड़े; अतएव, किसी अप्सरा ने, सुरलोक में, उसे अपना पति बनाया और नन्दनवन के फूलों की माला पहनाई। १००८ और १०१८ के बीच जयसिंह के बड़े भाई ने राज्य किया; परन्तु उसका नाम बिल्हण ने छोड़ दिया है।

राजा को परास्त करके उसे उसने निकाल दिया और अपनी राजधानी कल्याण को नये नये प्रासादों और मन्दिरों से शोभित किया।

आहवमल्ल यद्यपि वैभव के शिखर पर आरूढ़ था, तथापि उसे इस बात की बड़ी चिन्ता थी, कि उसके कोई पुत्र नहीं। इसलिए उसने अपनी रानी के साथ एक शिवालय में तपस्या आरम्भ की। शङ्कर उसकी आराधना से प्रसन्न हुए और उन्होंने यह वर उसे दिया कि, एक नहीं किन्तु तीन पुत्र उसके होंगे। उन्होंने कहा कि "दो पुत्र तो तुझे तेरी तपस्या के प्रभाव और सदाचरणों के बल से होंगे और एक मेरी कृपा * से होगा"। यह सुनकर आहवमल्ल ने प्रसन्नतापूर्वक वहाँ से प्रस्थान किया और अपना राज्य-कार्य्य करने लगा।

---

* जान पड़ता है, अपने चरितनायक विक्रमाङ्क को देवताओं की कृपा-विशेष का पात्र प्रकट करने ही के लिए बिल्हण ने इस प्रकार की आकाशवाणी की योजना की है। विक्रम ने अपने बड़े भाई सोमदेव को निकाल कर कल्याण की राजगद्दी उससे छीन ली। अतः बिल्हण यदि विक्रम को देवताओं के प्रसाद से उत्पन्न हुआ न बतलाते तो शायद विक्रम का ऐसा अनुचित व्यापार वाचकों की दृष्टि में बहुत मन्द दिखलाई देता।

यथा समय आहवमल्ल की रानी के पहला पुत्र हुआ। उसका नाम सोमेश्वर रक्खा गया। जब दूसरी बार रानी गर्भवती हुई तब उसे विचित्र प्रकार के दोहद पूर्ण करने की इच्छा होने लगी। कभी उसने दिग्गजों की पीठ पर अपना पैर रखना चाहा; कभी अप्सराओं से अपने पैर मलाने चाहे; और कभी खड्गों को, उसने इस प्रकार, देखा मानों उनकी धारा के जल को वह पी लेना चाहती थी। अस्तु। बड़े शुभ मुहूर्त में आहवमल्ल के दूसरा पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी; इन्द्र की दुन्दुभी बजने लगी; और सब ओर आनन्द-प्रदर्शक गान सुनाई देने लगे। इस बालक का नाम विक्रमादित्य रक्खा गया। वह अपने पिता का अतिशय प्यारा हुआ। खेल में भी वह अद्भुत वीरता के लक्षण दिखलाने लगा। कभी वह हंसों की मृगया करता; और कभी पिँजरों में पड़े हुए सिंह के बच्चों को सताता। कुछ दिन में वह पढ़ने लिखने में भी कुशल हो गया और धनुर्विद्या में भी। विक्रम के अनन्तर आहवमल्ल के तीसरा पुत्र हुआ। उसका नाम जयसिंह रक्खा गया।

जब आहवमल्ल ने देखा कि विक्रमादित्य धनुर्विद्या में कुशल और युद्धक्षेत्र में जाने के लिए उत्सुक है तब उसने उसे अपना युवराज बनाना चाहा। परन्तु विक्रम ने इस बात को स्वीकार न किया। उसने कहा कि युवराज का पद उसके अग्रज सोमदेव को मिलना चाहिए। आहवमल्ल ने बहुत समझाया कि शङ्कर ने आकाश-वाणी द्वारा उसे ही प्रजापालन के योग्य होने की सूचना दी है; तथापि विक्रम आदरपूर्वक, परन्तु दृढ़ता के साथ, उस पद को अस्वीकार ही करता गया। विवश होकर आहवमल्ल ने सोमेश्वर को, युवराज नियत करके, अपने अनन्तर अपने राज्य का अधिकारी बनाया। राज्यलक्ष्मी और पिता का पवित्र प्रेम, तथापि, विक्रम ही की ओर रहे। राजा और युवराज के काम भी वही करता रहा। सोमेश्वर नाममात्र को युवराज था *।

अपने पिता आहवमल्ल की आज्ञा से, कुछ काल के अनन्तर, विक्रम युद्धयात्रा के लिए

*बिल्हण ने यहां पर भी विक्रम का पक्ष लिया जान पड़ता है। अपने बड़े भाई की ओर उसकी उदारता इत्यादि का वर्णन करके उसने विक्रम ही को राज्य पाने के योग्य होने का इशारा किया है।

निकला। उसने चोल देश के राजा को परास्त किया और उसकी राजधानी काञ्ची को लूट लिया। मालवा के राजा ने, अपने खोए हुए राज्य को फिर प्राप्त करने के अभिप्राय से, उससे सहायता माँगी। विक्रम ने उसकी सहायता की। गौड़ और कामरूप* तक विजय करता हुआ वह चला गया। सिंहल के राजा को उसने उसके देश से निकाल दिया; मलयाचल के चन्दनवन को उसने उजाड़ डाला; और केरलदेश के नरेश को इस लोक से प्रस्थान कराया। गाङ्गकुण्ड, चक्रकोट और वेङ्गि† को भी उसने जीत लिया।

---

* विक्रम के द्वारा गौड़ और कामरूप का विजय किया जाना असम्भव सा जान पड़ता है। सम्भव है इन देशों के राजाओं के राज्य के किसी भाग में वह अपनी सेनासहित प्रविष्ट हो गया हो और वहाँ लूट मार करके लौट आया हो।

† वेङ्गि उस प्रदेश का नाम है जो गोदावरी और कृष्णा के बीच समुद्र के किनारे किनारे चला गया है। उस समय वहाँ चोलों का राज्य था। परन्तु यह नहीं पता लगता कि गाङ्गकुण्ड और चक्रकोट कहाँ थे और अब वे किस नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार विजयी होकर विक्रम कल्याण की ओर लौटा और कृष्णा के तट तक आया। वहाँ उसे अपशकुन होने लगे। इसलिए वह वहीं ठहर गया और शान्ति के निमित्त पुण्यकर्म्म करने लगा। जिस समय वह वहाँ इस प्रकार शान्ति-क्रियाओं में लगा था उसी समय कल्याण से एक दूत उसके पास पहुँचा। उसे देखते ही विक्रम को ऐसा अनुमान हो गया कि वह कोई अमङ्गल-संवाद लाया है। विक्रम ने पहले ही अपने पिता आहवमल्ल के कुशल समाचार पूछे। इस प्रश्न को सुनकर उस दूत ने बड़ा शोक प्रकाशित किया और आँखों से आँसू बहाते हुए क्रम क्रम से आहवमल्ल के मृत्यु की उसने सूचना दी। उसने कहा कि चोल, पांड्य और सिंहल इत्यादि देशों का आप के द्वारा जीता जाना सुनकर महाराज को महा आनन्द हुआ। आपके विजय के उपलक्ष्य में जब वे अनेक प्रकार के सुखोपभोग और आनन्द में निमग्न थे तभी उनको ज्वर ने आ घेरा। जब महाराज को विदित हो गया कि औषधोपचार से अब कोई लाभ न होगा तब उन्होंने दक्षिण की गङ्गा-स्वरूपिणी तुङ्गभद्रा में

अपना शरीर-पात करना निश्चित किया। अपने राजमन्त्रियों की सलाह से उन्होंने उस पवित्र नदी की ओर प्रस्थान किया; और वहाँ पहुँच कर उसकी तरङ्गमालाओं में 'शिव शिव' कहते हुए अपने प्राण विसर्जन किये।

पिता की मृत्यु का संवाद सुनकर विक्रमादित्य को अत्यन्त शोक हुआ। शोक और खेद से विह्वल होकर वह आत्महत्या तक करने के लिए उतारू हो गया। इस कारण उससे शस्त्र छीन लेने पड़े। कुछ समय के अनन्तर उसका शोक कम हुआ और कृष्णा के तट पर उसने अपने पिता की अन्त्यक्रिया की।

पिता की अंत्येष्टि क्रिया को समाप्त करने पर, विक्रमादित्य ने, अपने बड़े भाई सोमेश्वर को धैर्य देने के लिए, कल्याण की ओर प्रस्थान किया। सोमेश्वर मिलने के लिए नगर से बाहर आया और बड़े प्रेम से विक्रम से मिला। कुछ काल तक दोनों भाई बिना किसी वैमनस्य के प्रीतिपूर्वक रहते रहे। यद्यपि सोमेश्वर से विक्रम सब बातों में श्रेष्ठ था, तथापि उसने अपने बड़े भाई का वैसाही मान रक्खा जैसा कि राजा का रखना

चाहिए। जो कुछ धन और सम्पत्ति लड़ाइयों में लूट लाया था वह भी उसने सोमेश्वर को दे दी* । कुछ काल के अनन्तर सोमेश्वर अनेक प्रकार के दुराचरणों में लिप्त हो गया । अभिमान ने उसको अन्यायी बना दिया । लोभ ने उसे घेर लिया । सबके ऊपर उसे सन्देह होने लगा । प्रजा पर वह निर्दयता करने लगा। इन कारणों से अच्छे अच्छे अधिकारी पुरुषों ने उसे छोड़ दिया। अतएव चालुक्यवंश की राजलक्ष्मी मलिन हो गई उसने अपने छोटे भाई विक्रम के साथ भी अन्याय करना आरम्भ किया । जब विक्रम ने कल्याण में रहना अनुचित समझा तब अपने छोटे भाई जयसिंह को साथ लेकर अपने अनुगामियों सहित वह चल दिया। जब सोमेश्वर ने सुना कि विक्रमादित्य कल्याण से भग गया तब उसने उस के पीछे अपनी सेना भेजी। विक्रम की यह इच्छा न थी कि अपने भाई से युद्ध करे, परन्तु विवश

* यहाँ पर, फिर भी विल्हण ने विक्रमादित्य की उदारता और योग्यता का इसलिए उल्लेख किया जान पड़ता है जिसमें यह भासित हो कि पीछे से होने वाले वैमनस्य का कारण सोमेश्वर ही था ,विक्रम नहीं ।

किये जाने पर उसे युद्ध के लिए सज्जित होना ही पड़ा। भाई की सेना को उसने क्षण भर में नष्ट कर दिया। सोमेश्वर ने कई वार विक्रम के मारने के लिए सेना भेजी, परन्तु विक्रम ने प्रतिवार उसे काट डाला। जब सोमेश्वर की कुछ न चली और उसकी असंख्य सेना मारी गई तब वह चुप हो बैठा।

इस प्रकार कई बार सोमेश्वर की सेना को परास्त करके विक्रम तुङ्गभद्रा की ओर चला और उसके किनारे पहुँच कर वहाँ अपनी सेना उसने निवेशित की। वहाँ से उसने चोल देश पर चढ़ाई करना चाहा; परन्तु कुछ काल वनवास* प्रान्त में व्यतीत किया।

जब उसने युद्धयात्रा के लिए प्रस्थान किया तब उसकी सेना के तूर्यनाद ने मलयदेश के राजाओं को उसकी पहली वीरता के कार्यों का

---

* वनवास उस प्रान्त का नाम है जो घाट पर्वतों के पास तुङ्गभद्रा और वरदा नदियों के बीच में है। जान पड़ता है, उस समय, वनवास चालुक्यों ही के राज्य के अन्तर्गत था। एशियाटिक सोसाइटी के जरनल के चतुर्थ भाग से विदित होता है कि, चालुक्यों की अधीनता में कादम्ब-वंश के राजा वनवास प्रान्त में राज्य करते थे।

स्मरण दिलाया । कोंकन का राजा जयकेशी* उससे आकर मिला और अनेक प्रकार के उपायों से उसने उसकी सम्भावना की । † आलुपदेश के राजा ने भी विक्रम की अधीनता स्वीकार की । केरल के राजा की स्त्रियाँ विक्रम के पहले कृत्यों का स्मरण करके भयभीत हो उठीं ।

चोलदेश के राजा ने जब यह जाना कि वह विक्रम का सामना नहीं कर सकता तब उसने अपना दूत भेजकर विक्रम से स्नेह सम्पादन करना चाहा । इस बात को विक्रम ने स्वीकार किया । चोल-नरेश ने इस परस्पर की मैत्री को, अपनी कन्या का विक्रम के साथ विवाह करके, और भी दृढ़ करने की अभिलाषा प्रकट की । विक्रम ने इस बात को भी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और वह

---

* फ्लीट साहब के प्रकाशित किए हुए शिलालेखों में लिखा है कि कादम्ब-वंश का यह द्वितीय जयकेशी नामक राजा था । उसकी राजधानी गोपकपुर अर्थात् गोवा थी । जयकेशी और विक्रमादित्य की मित्रता का उल्लेख भी इन शिलालेखों में है ।

† यह ठीक ठीक नहीं जाना गया कि आलुप नामक नगर कहाँ विद्यमान था । फ्लीट साहब का अनुमान है कि समुद्र के तट पर गोवा के पास ही वह कहीं रहा होगा ।

वहाँ से तुङ्गभद्रा की ओर फिर लौट गया। वहीं चोल-नरेश भी आकर उससे मिला और वहीं उसने विक्रम को अपनी कन्या समर्पण की। कन्यादान के अनन्तर चोलनरेश अपने देश को लौट गया। कुछ काल पीछे विक्रम ने अपने ससुर की मृत्यु का समाचार सुना। इस बात की भी तत्काल ही उसे सूचना मिली कि, चोलमहीप के मरने से राज्य में विप्लव मच गया है। इसलिए उसने अपने साले को गद्दी पर बिठाने के लिए दक्षिण की ओर फिर प्रस्थान किया। कांची पहुँच कर उसने विरोधियों को मार भगाया और अपने साले को सिंहासन पर बिठा दिया। उसके अनन्तर वह गांगकुण्ड पहुँचा और वहाँ शत्रु की सेना को नष्ट करके चोलदेश के नवीन नरेश को उसने शत्रु-रहित कर दिया। वहाँ से लौट कर कुछ दिन कांची में वह फिर रहा और उसके अनन्तर पुनर्वार तुङ्गभद्रा की ओर गया। उसे उस ओर गये थोड़े ही दिन हुए थे कि उसने अपने साले की मृत्यु का अमङ्गल समाचार सुना और साथ ही यह भी सुना कि वेङ्गि देश के राजा राजिग ने कांची को अपने अधिकार में कर लिया है।

राजिग को दण्ड देने के लिए विक्रम ने अपनी सेना सज्जित की और शीघ्र ही कांची की ओर प्रस्थान कर दिया। परन्तु राजिग ने विक्रम के बड़े भाई सोमेश्वर के पास दूत भेजकर उसे अपना मित्र बना लिया और दोनों ने मिल कर विक्रम को परास्त करने का विचार किया। यद्यपि चोल और चालुक्यों की सर्वदा से शत्रुता चली आती थी, तथापि भाई से बदला लेने का अच्छा अवसर हाथ आया जान सोमेश्वर इस चिर-शत्रुता को भूल गया। विक्रम ने राजिग पर चढ़ाई की और थोड़े दिनों में वह अपने शत्रु की सेना के सम्मुख पहुँच गया। इधर सोमेश्वर ने कल्याण से प्रयाण किया और विक्रम के पीछे पीछे अपनी सेना दौड़ा कर उसका निकटवर्ती हुआ। जब विक्रम को अपने भाई की कृति का समाचार मिला तब उसने उसके साथ युद्ध करने से अनिच्छा प्रकट की और सोमेश्वर को उसके अनुचित अनुष्ठान से विरत होने के लिए बहुत समझाया। सोमेश्वर ने ऊपरी मन से विक्रम को लिख भेजा कि वह उसके साथ युद्ध नहीं करना चाहता; परन्तु मन में वह उसे धोखा देकर मार

डालने का यत्न करता रहा। विक्रम को उसकी चाल विदित हो गई; परन्तु फिर भी अपने बड़े भाई के सम्मुख रण में शस्त्र उठाने से उसने आना-कानी की। अतएव शिव* ने स्वप्न में विक्रम को आज्ञा दी कि वह लड़े और अपने शत्रुओं को परास्त करके दक्षिण में सबसे बड़ा राजा होवे। यदि ऐसा स्वप्न उसे न होता तो वह कदापि अपने बड़े भाई से न लड़ता। अस्तु। दूसरे दिन महा घोर संग्राम हुआ; उसमें विक्रम की जीत हुई।

* एशियाटिक सोसायटी के जरनल के चतुर्थ भाग में लिखा है कि यह युद्ध १०७६ ईसवी में हुआ। परन्तु राजिग का नाम वहाँ नहीं लिखा; केवल सोमेश्वर और विक्रम के युद्ध का वर्णन है। बिल्हण के अनुसार विक्रम को राज्य की अभिलाषा न थी; वह उसे उसके भाग्य से आपही आप मिला; यों कहना चाहिए कि शिवजी ने बलात् उसे दिलाया। परन्तु सामान्य वाचकों के मन में इन बातों को सुन कर शंका आये बिना नहीं रह सकती। राज्य के लिए भाई भाई में अनेक युद्ध हुए हैं और अब भी अनेक झगड़े हुआ करते हैं। कोंकन और आलुप इत्यादि के राजाओं से मेल करके विक्रम यदि पहले ही से अपने भाई के साथ युद्ध के लिए प्रस्तुत रहा हो तो क्या आश्चर्य्य है? राज्य-लक्ष्मी के लिए कौन लोलुप नहीं होता? यदि, विक्रम संसार के साधारण नियमों में अपवादरूप रहा हो तो हो सकता है।

राजिग भाग गया; और सोमेश्वर पकड़ लिया गया। युद्ध समाप्त होने पर विक्रम तुङ्गभद्रा की ओर फिर लौट आया। उसने चाहा कि वह सोमेश्वर को छोड़ दे और छोड़कर राज्य भी उसे ही दे दे; परन्तु शिव ने क्रोधपूर्वक फिर उसे आज्ञा दी कि वह तुरन्त ही राज्य का सूत्र अपने हाथ में लेवे। अतएव, विवश होकर, शिवजी की आज्ञा विक्रम को माननी पड़ी। उसने अपने को दक्षिण का राजा प्रसिद्ध किया और अपने छोटे भाई जयसिंह को वनवास देश का अधिकारी नियत किया*।

तदनन्तर विक्रम ने और अनेक चढ़ाइयाँ कीं और दिग्गजों को छोड़ कर सब कहीं सब कुछ अपने अधीन कर लिया। कवि ने यह नहीं लिखा कि किसके ऊपर ये चढ़ाइयाँ हुईं। परन्तु जब कोई राजा जीतने को न रहा—सारा 'नरनाथचक्र†' जीत लिया गया—तब विक्रम ने चोल को निर्मूल करने के लिए एक बार और उस पर धावा किया। यह करके उसने अपनी राजधानी कल्याण में प्रवेश किया।

---

* बिल्हण ने यह कहीं नहीं लिखा कि सोमेश्वर का क्या हुआ।

† 'नरनाथचक्र' से शायद सामान्य सामन्तों से अभिप्राय है।

कल्याण में विक्रम का आगमन वसन्त में हुआ। जब ऋतुराज अपने आगमन से मनुष्यों के चित्त को चंचल कर रहा था तभी करहाट (अर्वाचीन कराड़) के राजा की कन्या चन्द्रलेखा अथवा चंदल देवी की अश्रुतपूर्व सुन्दरता का वर्णन विक्रम के कान तक पहुँचा। उसने सुना कि पार्वती की आज्ञा से वह राजकन्या स्वयंवर करना चाहती है। नख से लेकर शिखा पर्य्यन्त उस कन्या का वर्णन सुनकर विक्रम का चित्त उस पर लुब्ध हो गया। अतएव इस बात के जानने के लिए उसने करहाट को एक दूत, उसी क्षण, भेजा कि चन्द्रलेखा उसे मिल सकती है या नहीं। उस दूत के लौटने तक विक्रम को असह्य विरह-वेदनायें हुईं। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग दुबले होगये; उसका मुख पीला पड़ गया; और किसी काम में उसका मन न लगने लगा। यह दशा बहुत दिन तक उसे न भोगने पड़ी। वह दूत शीघ्र ही लौट आया और समाचार भी यथेष्ट लाया। उसने कहा कि आपके सद्गुणों पर मोहित होकर चन्द्रलेखा ने आप ही को जयमाल पहनाना

निश्चय किया है। उसके पिता ने भी यह बात स्वीकार करली है।

स्वयंवर शीघ्र ही होने वाला था; अतएव विक्रम ने करहाट के लिए शीघ्र ही प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचने पर, यथोचित आदर-सत्कार के अनन्तर, करहाट-नरेश ने उसे स्वयंवर के मण्डप में प्रवेश कराया। वहाँ विक्रम ने देखा कि अनेक देशों के राजा महामनोमोहक वेष बनाये हुए अपने अपने स्थान पर आ बैठे हैं। विक्रम के आसन ग्रहण करने पर चन्द्रलेखा भी प्रतीहारी के साथ मंडप में आई। प्रतीहारी बड़ी चतुर और बहुश्रुत थी। आये हुए राजाओं के चरित से वह भली भाँति परिचित थी। उसने प्रत्येक राजा का वर्णन बड़ी योग्यता से किया। अयोध्या, चेदी, कानकुब्ज, चर्मणवती, कालिंजर, गोपाचल, मालव, गुर्जर, पांड्य और चोल आदि देशों के नरेशों की प्रशंसा में प्रतीहारी ने क्रम क्रम से बहुत कुछ कहा; परन्तु उनमें से एक भी चन्द्रलेखा के मन न आया। अनेक प्रकार की भाव-भङ्गियों से एक एक राजा को अपने मनोनुकूल न होने की सूचना देती हुई चन्द्रलेखा आगे बढ़ती गई। जब वह विक्रम के

सम्मुख आई तब उसने उसके कंठ में माला डाल दी। दर्शकों ने उसके इस कृत्य की आल्हाद-सूचक वाक्यों से अनुमोदना की। तदनन्तर चन्द्रलेखा और विक्रम ने शीघ्र ही अन्तःपुर में प्रवेश किया।

स्वयंवर समाप्त हो जाने पर निराश हुए दूसरे राजाओं ने वहाँ से प्रस्थान किया। उनमें से कई राजाओं ने कोप-व्यञ्जक काम किये होते, परन्तु चालूक्य-नरेश के भय से वे चुप चाप वहाँ से चले गये। विक्रम और चन्द्रलेखा करहाट ही में कुछ काल तक रहे। उस समय बसन्त* तो था ही; प्रातः काल वे दोनों पुष्पवाटिका में घूमने जाया

---

* बिल्हण ने सातवें सर्ग में दोला और वसन्त का वर्णन; आठवें में चन्द्रलेखा के स्वरूप का वर्णन; दसवें में, वनविहार, पुष्पावचय, और जल-विहार-वर्णन; ग्यारहवें में संध्या, चन्द्रोदय, इत्यादि का वर्णन करके ग्रन्थ को बहुत बढ़ा दिया है। विक्रम के चरित से और इन बातों से बहुत कम सम्बन्ध था; परन्तु अलंकार-शास्त्र के अनुसार चरित को काव्य के लक्षणों से लक्षित करने ही के लिए बिल्हण को इतना परिश्रम करना पड़ा।

करते थे। चन्द्रलेखा से बसन्त का वर्णन करके विक्रम उसे प्रसन्न करता था; और झूले पर बिठाकर उसे स्वयं झुलाता था। दस पाँच दिन बीत जाने पर एक बार करहाट का सारा रनिवास पुष्प-वाटिका को गया और वहाँ राजा के साथ अनेक प्रकार की विनोदात्मक बातें करते हुए उन्होंने फ़ूल बीने। उसके अनन्तर सबने जल-विहार किया और सायङ्काल चन्द्रमा की आह्लादकारिणी चाँदनी का सुख लेकर सबने शृंगार भी किया। यह सब हो जाने पर राजा ने स्त्रियों समेत मधुपान किया। स्त्रियाँ शीघ्र ही मधु के वश हो गईं और उनकी अङ्ग-भङ्गी और बातों से राजा का बहुत कुछ मनोरञ्जन हुआ।

ग्रीष्म के आरम्भ में चन्द्रलेखा को लेकर विक्रम कल्याण लौट आया। उसका पुर में प्रवेश करना सुन स्त्रियाँ उसे देखने को दौड़ीं और नाना प्रकार की चेष्टाओं से उस पर उन्होंने अपना प्रेम प्रकट किया। अपने महलों में पहुँच कर विक्रम ने एक बहुत बड़ा दरबार किया और दरबार के अनन्तर वह अन्तःपुर में सुख से रहने लगा। चन्दन आदिक शीतल पदार्थों से अपने शरीर को लिप्त करके,

ग्रीष्म की गर्मी से बचने के लिए, रानियों के साथ स्नानागर और भूगर्भगृह इत्यादिकों में उसने निवास किया और किसी तरह अपने को ग्रीष्म की ऊष्मा से बचाया। कुछ काल के अनन्तर उसने वापिकाओं में जल-क्रीड़ा भी की। वर्षा ऋतु आने पर भी वह अपनी राजधानी ही में रहा और नाना प्रकार के सुखोपभोग में अपना समय विताया। चन्द्रलेखा को सम्बोधन करके वर्षा का बहुत ही अच्छा वर्णन उसने अपने मुख से किया। यह वर्णन बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेव के मुख से केवल इसी लिए कराया है जिसमें सब ऋतुओं का वर्णन उसके काव्य में आजाय।

वर्षा के अन्त में विक्रम को यह समाचार मिला कि उसका छोटा भाई जयसिंह, जिसे उसने वनवास का अधिकारी बनाया था, उसके प्रतिकूल शस्त्र उठाना चाहता है। उसने यह भी सुना कि जयसिंह ने प्रजा को पीड़ित करके बहुत सा धन एकत्र कर लिया है; अपनी सेना भी बढ़ाई है; द्रविड़देश के राजा से मित्रता करने का भी वह यत्न कर रहा है; और सब से बुरी बात यह कि कल्याण-नरेश के योद्धाओं को भी वह अपने वशी-

भूत करना चाहता है। इस संवाद को सुनकर विक्रम को बड़ा असमंजस हुआ; परन्तु जयसिंह की प्रतिकूलता का पूरा प्रमाण पाये बिना उसके प्रतीकार के लिए उद्यत होना उसने अनुचित समझा। अतएव उसने सत्यता का निर्णय करने के लिए कई दूत भेजे, जिन्होंने आकर उसके सुने हुए संवाद को सत्य बतलाया। इस पर भी विक्रम ने अपने भाई के प्रतिकूल शस्त्र नहीं उठाना चाहा; उसने जयसिंह को कहला भेजा कि प्रतिकूलता करने से उसे कोई लाभ न होगा। परन्तु उसके कहने सुनने का जयसिंह पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

इसी अवसर में शरद ऋतु का आगमन हुआ। बिल्हण ने इस ऋतु की शोभा का भी लम्बा चौड़ा वर्णन किया है।

यद्यपि इस ऋतु में अनेक बातें सुखकर होती हैं, परन्तु जयसिंह की ओर से खटका होने के कारण विक्रम को उसका आगमन सुखदायक नहीं हुआ। विक्रम ने बहुत चाहा कि जयसिंह उससे मेल कर ले; परन्तु उसने एक न सुनी। जयसिंह ने अनेक माण्डलिक राजाओं के साथ शीघ्र ही सेना समेत

कृष्णा की ओर प्रस्थान किया। गर्व में आकर मार्ग में, जयसिंह के योद्धा और सामन्तों ने अनेक प्रजा-पीड़क काम किये। नगर लूट लिये गये; कोई कोई जला भी दिये गये। नगर-निवासी कारागारों में डाल दिये गये।। विक्रम ने तङ्ग आकर, अन्त में, शस्त्रग्रहण किये और सेना सजा कर वह भी कृष्णा नदी की ओर चला। वहाँ एक बार उसने अपने भाई के पास साम-दाम-सूचक एक पत्र और भेजा; परन्तु उससे भी कोई लाभ न हुआ। अन्त में युद्ध हुआ। युद्ध में पहले यह भासित होने लगा कि हाथियों की अधिकता के कारण, जयसिंह ही के हाथ खेत रहेगा; परन्तु विक्रमाङ्कदेव की वीरता और रण-कुशलता के सामने विपक्षियों की कुछ न चली। जयसिंह की सेना भाग निकली और वह पकड़ लिया गया*। परन्तु विक्रम ने

*विक्रम और जयसिंह के युद्ध का कोई पता इलियट। साहब के प्रकाशित किये गये शिलालेखों में नहीं मिलता। जान पड़ता है, जान बूझ कर विक्रम ने इस बात का किसी शिलालेख में उल्लेख नहीं होने दिया कि कोई यह न जाने कि उसने अपने दोनों भाइयों से युद्ध किया। यह युद्ध १०७७ ईसवी में हुआ।

अपने भाई के साथ, तिसपर भी, कोई बुरा व्यवहार नहीं किया। उसके साथ विक्रम ने दयालुता ही का बर्ताव किया।

विक्रम जब कल्याण को लौटा तब शिशिर ऋतु थी। इस ऋतु के अनुकूल सुखोपभोग करके उसने मृगया के लिए प्रस्थान किया और अनेक सिंह, शूकर, हरिण इत्यादि अपने तीक्ष्ण बाणों से मार गिराये। यह मृगयावर्णन भी, काव्य का एक अङ्ग समझ कर ही, शायद, बिल्हण ने विक्रमाङ्क-देवचरित में रक्खा है।

जब विक्रम ने अपने सब शत्रुओं को परास्त करके उनके देशों को अपने अधिकार में कर लिया तब उसके राज्य में सब कहीं शान्ति ही शान्ति दिखलाई देने लगी। प्रजा को किसी प्रकार का दुःख न रहा। दुर्भिक्ष और अकालमृत्यु का भय जाता रहा। मेघ यथासमय बरसने लगे। दान में वह कर्ण से भी बढ़ गया। प्रजा को वह पुत्रवत् समझने लगा। नेत्रों को सुख देने वाले उसके पुत्र भी हुए। अपना नाम चिरस्मरणीय करने के लिए उसने अनेक धर्म्मशालायें और देवस्थान भी बनवाये। कमलाविलासी नामक विष्णु का एक

अति मनोरम मन्दिर भी उसने निर्म्माण कराया; और उसके सामने ही एक उत्तम तड़ाग खुदवाया। उसी के पास उसने एक बहुत बड़ा नगर भी बसाया* ।

विक्रम को एक बार फिर युद्ध-यात्रा करनी पड़ी। चोल-नरेश ने फिर सिर उठाया। विक्रम ने फिर काञ्ची पर चढ़ाई की और युद्ध में फिर चोल-महीप का पराजय हुआ। विक्रम ने काञ्ची को अपने अधीन कर लिया और वहाँ कुछ दिन रहकर वह अपनी राजधानी कल्याण को लौट आया† ।

बिल्हण की कविता ।

बिल्हण महाविद्वान् भी थे और महारसिक भी। सुनते हैं, जिस समय वे इस देश में पर्य्यटन कर रहे थे, उस समय किसी राजा के दरबार में

* इस नगर का नाम शिलालेखों में विक्रमपुर लिखा है। विक्रम का खुदाया हुआ तड़ाग और दूसरी टूटी फूटी इमारतें और मन्दिर इस नगर के पूर्वकालीन वैभव की अभी तक साक्ष्य दे रहे हैं।

† यहाँ पर बिल्हण का वर्णन किया हुआ विक्रमाङ्क का चरित समाप्त हुआ।

उन्हें प्रवेश पाने में कठिनाई हुई; द्वार ही पर वे रोक दिये गये। जब उन्होंने समझ लिया कि हम किसी प्रकार भीतर नहीं जाने पाते तब द्वार ही पर एक श्लोक लिख कर उन्होंने उसे राजा के पास भेजा। इस श्लोक का अन्तिम चरण यह है—

विल्हणो वृषणायते !

इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं; और न पूरा श्लोक देने ही की आवश्यकता; क्योंकि वह अश्लील होने के कारण जुगुप्सा-जनक है; परन्तु है बड़े मज़े का श्लोक।

बिल्हण के ग्रन्थों में से केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं—एक उनकी पञ्चाशिका और दूसरा विक्रमाङ्कदेवचरित। पञ्चाशिका का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इसमें ५० श्लोक हैं और प्रति श्लोक के आरम्भ में "अद्यापि" है, इस "अद्यापि" से भी बिल्हण के विपत्तिग्रस्त होने की सूचना मिलती है। मरने के समय किसी को शृङ्गारिक भाव नहीं सूझते; परन्तु प्रेमातिशय के कारण बिल्हण को उस समय भी अपनी वल्लभा का स्मरण आया। किसी किसी श्लोक में तो उन्होंने "अन्ते स्मरामि" अर्थात् "अन्त समय में मैं उसे स्मरण

करता हूँ"—इस प्रकार स्पष्ट लिखा है। इस पञ्चाशिका का अन्तिम श्लोक बहुत ही मनोहर-भाव-पूर्ण है। अनुकूल समय आने पर पण्डित लोग बहुधा उसे कहते हैं। वह यह है—

अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं;
कूर्म्मो बिभर्त्ति धरणीं खलु पृष्ठभागे।
अम्भोनिधिर्वहति दुःसहवाडवाग्नि-
मङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति ॥

अर्थात् कालकूट विष को पी कर अब तक उसे शङ्कर ने अपने कण्ठ में स्थान दे रखा है, फेंका नहीं; कूर्म्म ने अपनी पीठ पर पृथ्वी को एक वार जो रक्खा तो अब तक रक्खे ही हुए हैं; सागर भी अत्यन्त दुःसह वडवानल को पूर्ववत् धारण किये है; सच है—सत्पुरुष जिसे एक वार अपना लेते हैं उसको फिर कभी नहीं छोड़ते; उसका सर्वदा परिपालन ही करते हैं। सचमुच यह बहुत ही अच्छा पद्य है और बिल्हण की अद्भुत प्रतिभा का नमूना है।

बिल्हण ने इस पञ्चाशिका में अपनी प्राणाधिका के सम्बन्ध में अत्यन्त ही शृङ्गारिक श्लोक कहे हैं, उनमें कहीं उसके रूप का वर्णन है; कहीं उसकी

उक्तियों का; कहीं उसके हावभावों का; और कहीं तदनुकूल अपने मनोविकारों का। मरणोन्मुख मनुष्य के मुख से ऐसी सरस और सालङ्कार कविता का निकलना बड़े आश्चर्य्य की बात है।

बिल्हण के विक्रमाङ्कदेवचरित में १८ सर्ग हैं। यह एक जगह में हम ऊपर भी कह आये हैं। यहाँ पर हम प्रत्येक सर्ग में वर्णन किये गये विषयों की अनुक्रमणिका देते हैं—

विषय

१—मङ्गलाचरण; कवि और काव्यकी प्रशंसा; आहवमल्ल और उसके पूर्वजों का वर्णन।

२—चालुक्यों की राजधानी कल्याण का वर्णन; सन्तान के लिए आहवमल्ल की तपस्या; शङ्कर का वर-प्रदान; सोमदेव का जन्म।

३—विक्रमाङ्कदेव का जन्म; उसके बालचरित; जयसिंह का जन्म; सोमदेव को युवराज-पद की प्राप्ति।

४—विक्रमाङ्क-कृत दिग्विजय; आहवमल्ल की मृत्यु; सोमदेव का राजा होना; विक्रमाङ्क का कल्याण को लौटना; सोमदेव का अन्याय और अस-

चरित ; अपने छोटे भाई जयसिंह के साथ विक्रमाङ्क का कल्याण-त्याग । सोमदेव की सेना का विक्रमाङ्क द्वारा पराजय ।

५—विक्रमाङ्क का द्रविड़, केरल, चोल आदि देशों को जाना ; उनसे कर लेना ; द्रविड़-नरेश की कन्या के साथ तुङ्गभद्रा के तट पर उसका विवाह ।

६—चोल-नरेश की मृत्यु ; वेङ्गि के राजा राजिग की चोल देश पर चढ़ाई ; युद्ध में चोल-नरेश के पुत्र की मृत्यु ; सोमदेव और वेङ्गि-महीप की विक्रमाङ्क के प्रतिकूल सलाह ; विक्रम का उन दोनों के साथ युद्ध ; विक्रमाङ्क की जीत ; सोमदेव का पकड़ा जाना ; जयसिंह को वनवास-प्रदेश की प्राप्ति ; विक्रम का कल्याण-गमन ।

७—वसन्त-वर्णन ; दोला-वर्णन इत्यादि ।

८—करहाट-नरेश की कन्या चन्द्रलेखा की रूप-वर्णना ।

९—चन्द्रलेखा की चिन्तना में विक्रम की वियोग-व्यथा ; करहाट-नरेश के पास दूत भेजना ; स्वयंवर में जाना ; स्वयंवरा कन्या का वर्णन ; आये हुए राजाओं की चेष्टा ; प्रतीहारी द्वारा

राजाओं का चरित-कीर्तन ; चन्द्रलेखा का विक्रम को माला पहनाना ।

१०—वन-विहार, जल-विहार, फूल बीनना इत्यादि ।

११—सन्ध्या, चन्द्रोदय, चन्द्रोपालम्भ और प्रभात आदि का वर्णन ।

१२—ग्रीष्म में विक्रम का करहाट से कल्याण को लौटना ; नगर-नारियों की चेष्टा ; ग्रीष्म-ऋतु के अनुकूल शीतोपचार ; वापिका-विहार इत्यादि ।

१३—रानी चन्द्रलेखा को सम्बोधन करके विक्रम के मुख से वर्षा-वर्णन ।

१४—जयसिंह की शत्रुता ; शरद् का आगमन और उसका वर्णन ; दूत-द्वारा जयसिंह को विक्रम का सदुपदेश ; अपना राज तक दे डालने के लिए प्रस्तुत होना ; जयसिंह का न मानना ; दोनों ओर से चढ़ाई ; कृष्णा नदी के तट पर सेना-निवेश ।

१५—जयसिंह और विक्रम का युद्ध ; जयसिंह का पराजय और पलायन ; उसका पकड़ा जाना ।

१६—हेमन्त, शिशिर और मृगया आदि का वर्णन ।

१७—विक्रम का दान-धर्म्म, प्रजापालन इत्यादि; तड़ाग, नगर और मन्दिर आदि का निर्म्माण ;

सन्तानोत्पत्ति ; चोल-नरेश के साथ अन्तिम संग्राम; विक्रम की जीत ; कुछ काल तक चोल की राजधानी काञ्ची में उसका रहना और तदनन्तर कल्याण-गमन ।

१८—काश्मीर-वर्णन; काश्मीर के राजा अनन्त, कलश और हर्ष आदि का वर्णन ; कवि के पूर्वजों का तथा स्वयं अपना चरित, देश-पर्य्यटन इत्यादि ।

इस विषयानुक्रमणिका से स्पष्ट है कि ऋतु आदि का वर्णन करके बिल्हण ने कथा को बहुत ही अधिक पल्लवित किया है । यदि काव्य के अङ्गों का वर्णन इसमें न किया जाता तो सातही आठ सर्गों में विक्रम का जितना चरित इसमें वर्णित है उतना आजाता । बिल्हण ने अपने काव्य को यद्यपि चरित नाम दिया है तथापि, इस समय की रुचि के अनुसार, उन्होंने तवारीख़ नहीं लिखी । बिल्हण को महाकाव्य लिखना था और उसके लिए किसी नायक का आधार आवश्यक था । अतएव जिसके वे आश्रित थे उसको ही चरित का नायक करके उन्होंने यह काव्य निर्माण किया । बिल्हण को ऋतु-वर्णन से बड़ी प्रीति जान पड़ती है ; एक भी ऋतु उन्होंने नहीं छोड़ी । चौदहवें सर्ग में कहाँ तो

विक्रम जयसिंह की शत्रुता का विचार करके युद्ध रोकने का यत्न कर रहा था, कहाँ बीच में बिल्हण ने शरद लाकर खड़ी कर दी और उसी का आप वर्णन करने लगे। ऐसे अवसर में इस प्रकार का वर्णन अनुचित जान पड़ता है।

जयसिंह के साथ जब विक्रम युद्ध करने गया तब अपने साथ अपना सारा अन्तःपुर भी लेगया था। प्राचीन समय में शायद राजा लोग अपने रनिवास समेत युद्ध-यात्रा को निकलते थे। शायद वे इसलिए ऐसा करते थे कि दैवात् यदि वे परास्त हो जायँ तो रनिवास को अपने साथ रख कर उसकी वे रक्षा कर सकें, क्योंकि राजधानी में छोड़ जाने से भय था कि स्त्रियाँ कहीं शत्रुओं के हाथ न पड़ें। मुसल्मान बादशाह भी अकसर ऐसा करते थे। विक्रम अपने साथ अपना रनिवासही नहीं लेगया, किन्तु वेश्यायें भी। मृगया-विहार के समय, बिल्हण ने लिखा है कि, वेश्यायें घोड़ों पर सवार होकर राजा के साथ मृगया में भी गई थीं। देखिए:—

वाराङ्गनास्तस्य तुरङ्गमेषु
भ्रूकार्मुकारूढकटाक्षबाणाः।
विरेजिरे दिग्विजयोद्यतस्य
सेना इवानङ्गनराधिपस्य।

सर्ग १६, पद्य ३०।

दिग्विजय करने के लिए उद्यत हुए उस राजा की वाराङ्गनायें, भृकुटी रूपी धनुष पर कटाक्ष रूपी बानों को चढ़ाकर, अनङ्ग-नरेश की सेना के समान घोड़ों पर शोभायमान हुईं। जान पड़ता है कि, उस समय अन्तःपुर के साथ वारवनिताओं को भी बाहर ले जाना राजाओं के लिए कोई निन्दाजनक बात न मानी जाती थी।

इसमें संशय नहीं कि बिल्हण महाकवि थे। इस पर भी उन्होंने कालिदास के कथा-क्रम की, कालिदास के भावों की और कालिदास के वाक्य-विन्यास तक की, छाया ली है। वधस्थान में भी जो पचास पचास मनोहर पद्य कह सकता है उसके लिए ऐसा करना आश्चर्य्य की बात है। यह तो कहाही नहीं जा सकता कि यदि बिल्हण कालिदास के काव्य की छाया न ग्रहण करते तो उनका विक्रमाङ्कचरित नीरस अथवा अपाठ्य होता। फिर हम नहीं जानते, क्यों उन्होंने इस प्रकार का अनुचित काम किया। दूसरे के अर्थ को हरण करना उन्होंने स्वयं बुरा कहा है। आप कहते हैं:—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं
कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।

यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय
काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥
विक्र०, सर्ग १, पद्य ११ ।

हे कवीश्वर! साहित्य-समुद्र के मन्थन से उत्पन्न हुए अमृत की ख़ूब रक्षा करते रहो; क्योंकि दैत्यों के समान, उसे लूटने के लिए, काव्यार्थ के चोर इस समय बढ़ रहे हैं। यह कह कर आगे दूसरे श्लोक में आप चोरी करने की आज्ञा भी देते हैं। सुनिए:—

गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं
नास्ति क्षतिः काऽपि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यै-
रद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ॥
विक्र० सर्ग १, पद्य १२ ।

अथवा सब लोग यथेष्ट काव्यार्थ को हरण करें; उससे कवीश्वरों की कोई हानि नहीं। देखिए, यद्यपि देवताओं ने अनेक रत्न निकाल लिये, तिस पर भी, समुद्र अब तक रत्नाकर (रत्नों की खानि) बना ही हुआ है! इसी न्याय के अनुसार, जान पड़ता है, बिल्हण ने रघुवंश से काव्यार्थ हरण करने में कोई हानि नहीं समझी। यदि आज कल के छोटे मोटे कवि दूसरे का अर्थ हरण करें तो वे किसी

प्रकार क्षमा के पात्र भी माने जा सकते; परन्तु बिल्हण ऐसे महाकवि के लिए ऐसा व्यवहार करना हम फिर भी, अनुचित ही कहेंगे। अच्छा जाने दीजिए, बिल्हण को अर्थापहरण का दोषी न ठहरा कर, केवल अनुकरण करने अथवा दूसरे की उक्तियों का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने ही भर के लिए हम उत्तरदाता समझते हैं।

विक्रमाङ्कदेवचरित के नवें सर्ग में जो चन्द्रलेखा के स्वयंवर का वर्णन है वह रघुवंश के छठे सर्ग में वर्णन किये गये इन्दुमती के स्वयंवर का अनुकरण है—थोड़ा नहीं पूरा अनुकरण है। रघुवंश में इन्दुमती के साथ उसकी प्रतीहारी सुनन्दा थी और वही राजाओं का परिचय देती थी। विक्रमाङ्कचरित में भी बिना नाम की एक प्रतीहारी है और वह भी आये हुए राजाओं का वर्णन चन्द्रलेखा को सुनाती है। स्वयंवर में इन्दुमती के आने पर, उसे पाने की इच्छा रखने वाले राजाओं ने अपने मन के भाव अनेक प्रकार की चेष्टाओं से सूचित किये थे; विक्रमाङ्कदेव-चरित में भी वैसी ही चेष्टाओं का वर्णन है। बिल्हण के काव्य के सोलवें सर्ग में मृगया का जो

वर्णन है वह रघुवंश के नवम सर्ग के मृगया-वर्णन का अनुकरण है। विक्रमाङ्क-चरित के बारहवें सर्ग में विक्रम के कल्याण लौटने पर स्त्रियों की भाव-भङ्गियों का वर्णन रघुवंश के सप्तम सर्ग के वर्णन से बहुत कुछ मिलता है। अपने कथन की पुष्टि में हम दो एक उदाहरण प्रत्येक स्थल के देना चाहते हैं—

[१]

तत्रागतानां पृथिवीपतीना-
मासन्विचित्राणि विचेष्टितानि।
विक्र०, सर्ग ६, पद्य ७५।

वहाँ, आये हुए राजाओं ने विचित्र विचित्र प्रकार की चेष्टायें की।

प्रवालशोभा इव पादपानां
शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः।
रघुवंश, सर्ग ६, पद्य १२।

वृक्षों के पत्तों की शोभा के समान राजाओं ने अनेक प्रकार की शृङ्गार-चेष्टायें प्रदर्शित कीं।

[२]

श्रीखण्डचर्चापरिपाण्डुरोऽथ
पाण्ड्यः प्रकामोन्नतचारुदेहः।
विक्र०, सर्ग ६, पद्य ११६।

चन्दन के लेप से शुभ्रवर्णवाला, उन्नत देह-धारी, यह पाण्ड्य-नरेश है।

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः

क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।

रघुवंश, सर्ग ६ पद्य ६०।

हरिचन्दन का अङ्गराग लगाये हुए, और कंधों से हार को लम्बा लटकाये हुए, यह पाण्ड्य-देश का राजा है।

[३]

तत्रापि साऽभूद् गुणभाजनेऽपि

पराङ्मुखी श्रीरिव भाग्यहीने।

विक्र०, सर्ग ९, पद्य १२१।

भाग्यहीन से जिस प्रकार लक्ष्मी दूर हट जाती है, उसी प्रकार, सद्गुणी होने पर भी उस राजा से वह कन्या हट गई।

तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा

नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात्।

रघुवंश, सर्ग ६, पद्य ५८।

नीतिपूर्वक दूर से लाई हुई लक्ष्मी जैसे भाग्य-हीन के पास से चली जाती है वैसे ही वह कन्या भी उस राजा के पास से चली गई।

[४]

वदामि सौभाग्यगुणं किमस्य
यत्र स्थिते श्रीश्च सरस्वती च ।
विक्र०, सर्ग ६, पद्य १३७ ।

इस राजा के सौभाग्य की मैं कहाँ तक प्रशंसा करूँ; इसमें लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का एकही साथ निवास है ।

निसर्गभिन्नास्पददेकसंस्थ-
मस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
रघुवंश, सर्ग ६, पद्य २९ ।

सदैव अलग अलग स्थानों में रहनेवाली लक्ष्मी और सरस्वती, दोनों, ने इस राजा में, अपने रहने के लिए, एक ही स्थान नियत किया है ।

आसन्विलासत्रतदीक्षितानां
स्मरोपदिष्टानि विचेष्टितानि ।
विक्र०, सर्ग १२, पद्य २ ।

(राजा के पुरप्रवेश के समय) हाव-भावादि में कुशल स्त्रियों की काम प्रेरित अनेक चेष्टायें हुईं ।

बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां
त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ।
रघुवंश, सर्ग ७, पद्य ५ ।

और सब कामों को छोड़नेवाली नगर-नारियों की, इस प्रकार, चेष्टायें हुईं ।

[६]

अपि शरधिविकृष्टैश्छिच्छिदे कङ्क-पत्रै-
र्निकटमपि न रोहिद्गर्भिणी चक्रवालम् ।
स्मरणसरणिमागाद्गर्भभारालसानां
विलसितमबलानां यद्बलाद्भूमिभर्तुः ॥

विक्र०, सर्ग १६, पद्य ४५ ।

बहुत निकट आई हुई भी गर्भिणी-हरिणियें पर, बाणों को तरकस से खींच कर के भी, उसने न छोड़ा; क्योंकि सगर्भा कामनियें की विलास-चेष्टाओं का उस समय उसे स्मरण हो आया ।

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्ध्ये केशपाशे प्रियायाः ॥

रघुवंश, सर्ग ९, पद्य ६७ ।

घोड़े के पास से भी निकलजाने वाले रुचिर पक्षधारी मयूर पर उस (दशरथ) ने बाण न चलाया । मयूर को देख, चित्र विचित्र फूलों से

गुँधे हुए अपनी प्रिया के केशपाश का, उस समय, उसे स्मरण आगया।

[७]

रुद्धं विलोक्य हरिणं हरिणी गतापि
व्यावृत्य बाणविषये नृपतेश्चचार।
प्रायेण देहविरहादपि दुःसहोऽयं
सर्वाङ्गसंज्वरकरः प्रियविप्रयोगः॥

विक्र०, सर्ग १६, पद्य ४१।

हरिण को रुद्ध हुआ जान, दूर गई हुई भी हरिणी ने, लौट कर, अपने को (हरिण के स्थान में) राजा के बाण का निशाना बनाया। शरीर-त्याग से भी अपने प्रिय का वियोग प्रायः विशेष दुःसह और सन्तापकारी होता है।

इस पद्य के पूर्वार्द्ध का भाव बिल्हण ने कालिदास से लिया है; परन्तु इसका उत्तरार्ध, सीधा सादा होने पर भी, चित्त में अधिक चुभता है। और पूर्वार्ध से भी अधिक अच्छा है।

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकृष्टकर्णमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार॥

रघुवंश, सर्ग ९, पद्य ५७

निशाने में आये हुए (अपने पति) हरिण के शरीर को अपने शरीर से छिपाकर खड़ी हुई उसकी सचहरी हरिणी को देख कर, इन्द्र के समान प्रभाव वाले उस धनुर्धारी राजा (दशरथ) ने, प्रेमशक्ति के कारण दयालु-हृदय होकर, कान तक खींचे हुए भी बाण को उतार लिया।

बिल्हण की अनुकरण-शीलता के इतने उदाहरण बस हुए। अब हम आपकी कविता के दो चार अच्छे अच्छे नमूने सादर उद्धृत करके इस निबन्ध को समाप्त करेंगे।.

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिल्हण की कविता बहुत सरस है; और सरस होकर सरल भी है। बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरित को वैदर्भी रीति में लिखा है। माधुर्य्यव्यञ्जक ललित-रचना को वैदर्भी रीति कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार ही बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरित की कविता की है। आहवमल्ल की मृत्यु, राज्य के मद से उन्मत्त हुए सोमेश्वर की अनीति और वर्षा आदि का वर्णन बिल्हण ने बहुत ही अच्छा किया है। विक्रमाङ्कदेवचरित में स्थल स्थल पर उत्तमोत्तम प्रसाद-पूर्ण पद्य पाये जाते हैं। देखिए:—

काव्य-सम्बधिनी पद-रचना के विषय में बिल्हण अपना मत लिखते हैं:—

प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीति—
व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम् ।
अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि
वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि ॥

सर्ग १, पद्य १५ ।

पदों को अधिक प्रौढ़ करके पुरानी रीति की प्रतिकूलता करनाही अच्छा है—अत्यन्त उन्नति के कारण कञ्चुकी को फाड़ने वाले कान्ता के कुच-मण्डल की प्रशंसा ही होती है !

कल्याण-नगरी के वर्णन के अन्तर्गत वहाँ की कामिनियों का वर्णन:—

अविस्मृतत्र्यम्बकनेत्रपावकः
स्मरः स्मितेन्दीवरदीर्घचक्षुषाम् ।
विलासपीयूषनिधानकुम्भयो—
र्न यत्र वासं कुचयोर्विमुञ्चति ।

सर्ग २, पद्य १६ ।

त्रिलोचन के तीसरे लोचन से निकली हुई आग को अब तक न भूलने वाला काम, कल्याण में रहने वाली कमल-नयनी-नारियों के विलासा-

मृत से भरे हुए कुम्भरूपी स्तनद्वय में अपना निवास-स्थल बनाकर उसे एक मिनट के लिए भी नहीं छोड़ता ! जले हुए को पियूष से अधिक और क्या हितकार हो सकता है !

जिस समय विक्रमाङ्कदेव गर्भ में था उस समय उसकी माता की अवस्था का वर्णनः—

निपीड्य चन्द्रं पयसे निवेशिता
ध्रुवं तदीयस्तनकुम्भयोः सुधा ।
यदुत्पलश्यामलमाननं तयोः
सलाञ्छनच्छायमिव व्यराजत ॥

सर्ग २, पद्य ६३ ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि चन्द्रमा को निचोड़ कर उससे निकला हुआ अमृत उस राज-महिषी के स्तनरूपी घड़ों में भर दिया गया। अन्यथा नील-कमल के समान उनका मुख, चन्द्रमा के काले कलङ्क की तरह, क्यों शोभायमान होता? बिल्हण जी ! जैसी आपकी रसिकता वैसी ही आप की उक्ति ! अब आप की और तरह की उक्तियाँ सुनिए ।

राज्य पाने के अनन्तर सोमेश्वर का लक्ष्मीमदः—

मदिरेव नरेन्द्रश्रीस्तस्याभून्मदकारणम् ।
न विवेद परिभ्रष्टं यदशेषं यशोऽंशुकम् ॥

सर्ग ४, पद्य १८ ।

राज्य-लक्ष्मी ने उसे ऐसा उन्मत्त कर दिया जैसा मदिरा उन्मत्त कर देती है। यदि वह उन्मत्त न हुआ होता तो यशोरूपी सारा वस्त्र गिर जाने पर भी क्या उसे ज्ञान न होता?

वसन्त-वर्णन के अन्तर्गत मलयानिल का वर्णन:—

कृतप्रकोपाः पवनाशनानां
निवासदानादिव पन्नगानाम्।
विनिर्ययुश्चन्दनशैलकुञ्जा—
दाशामुदीचीमिव गन्धवाहाः॥
सर्ग ७, पद्य ५।

पवन-भक्षी सर्पों को इसने अपने आश्रय में रक्खा; इसी लिए कुपित सी होकर सुगन्धित पवन, मलयाचल को छोड़, उत्तर-दिशा की ओर चली।

चन्द्रलेखा की आँखों का वर्णन—

मृगीसम्बन्धिनी दृष्टिरसौ यदि न सुभ्रुवः।
धावति श्रवणोत्तंसलीलादूर्वाङ्कुरे कुतः॥
सर्ग ८, पद्य ७२।

यदि इस सुन्दर-भृकुटीवाली ने अपनी दृष्टि हरिणियों से नहीं पाई तो वह कान पर रक्खे हुए दूर्वादल की ओर क्यों दौड़ती है? सच है, दूब

की ओर दौड़ना दृष्टि का हरिणियों ही से सम्बन्ध सूचित करता है। उसके नेत्र इतने बड़े थे कि कान तक चले गये थे, यह भाव।

सन्ध्या-वर्णन—

मानुमानपरदिग्वनिताया-
श्चुम्वतिस्म मुखमुद्गतरागः।
पद्मिनी किमु करोतु वराकी
मीलिताम्बुरुहनेत्रपुटाऽभूत्॥

सर्ग ११, पद्य ६।

रागवान् * होकर सूर्य ने अन्य-दिशारूपी-स्त्री (अर्थात् पश्चिम-दिशा) का मुख-चुम्बन † किया। यह अनर्थ होता देख बेचारी कमलिनी से और कुछ न बन पड़ा; उसने केवल अपने कमलरूपी नेत्र बन्द कर लिये। और करती क्या?

वर्षा के अन्तर्गत मयूरों का वर्णन करते हुए विक्रमाङ्कदेव अपनी रानी चन्द्रलेखा से कहता है—

* रागवान् के यहाँ दो अर्थ हैं—अनुरागशील और अरुण-वर्ण।

† अर्थात् पश्चिम की ओर गया।

द्विषन्ति राजीवमुखि ! स्वजीवितं
ध्रुवं मयूरास्तव निर्जिताः कचैः ।
भवन्ति यद्वासवचापसम्मुखाः
शिलीमुखप्राप्तिसमुत्सुका इव ॥

सर्ग १३, पद्य २७ ।

हे कमल-लोचनी ! तेरे केश-कलाप से जीते जाने के कारण, अपने जीवन को धिक्कार समझ कर, ये मयूर अवश्य ही आत्महत्या करना चाहते हैं; क्योंकि, अपने शरीर को शरों से छेदने की इच्छा से ही मानों ये इन्द्र-धनुष के सम्मुख हो रहे हैं। बिल्हण ने क्या ही अच्छा कारण बताया है! 'विद्यापति' ही ठहरे।

हेमन्त-वर्णन—

मद्वैरिणः कठोरांशोरियं प्रणयभूरिति ।
रोषादिव तुषारेण निरदह्यत पद्मिनी ॥

सर्ग १६, पद्य १४ ।

"मेरे बैरी सूर्य की यह प्रणयिनी है"—यही समझ कर, जान पड़ता है, तुषार ने कमलिनी को जला दिया !

कवि-सम्बन्धिनी बिल्हण की एक और उक्ति को उद्धृत करके, हम, लेखनी को विश्राम देना चाहते हैं—

लङ्कापतेः सङ्कुचितं यशो य-
द्यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो-
न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः ॥

सर्ग १, पद्य २७।

लंकेश्वर रावण का यश जो धूल में मिल गया और रघुनायक रामचन्द्र की कीर्ति जो दिगन्त में व्याप्त होगई—वह सब एक आदि-कवि वाल्मीकि ही का प्रभाव है। राजाओं को चाहिए कि, कवियों को वे कभी कुपित न करें। हम भी 'तथास्तु' कहते हैं और कालिदास के रघुवंश की अनुकरण-शीलता का दोष लगाने का अपराध करके बिल्हण से त्रिवार क्षमा-प्रार्थना-पूर्वक इस चर्चा को समाप्त करते हैं।

——

परिशिष्ट ।

(१)

यह निबन्ध लिख चुकने पर 'बिल्हण काव्यम्' नामक एक छोटी सी पुस्तक हमारे देखने में आई। इसके अन्त में लिखा है:—

इति काश्मीरिकबिल्हणकविविरचितं
बिल्हणचरितापरनामधेयं
चन्द्रलेखासक्त-बिल्हणकाव्यम्

इससे सूचित होता है कि ख़ुद बिल्हण ही ने इसे बनाया है। क्योंकि बिल्हण नाम का और कोई कवि नहीं सुना गया। परन्तु यह ठीक नहीं। इस कविता में बिल्हण को एक तृतीय पुरुष मान कर सब बातें वर्णन की गई हैं। फिर इस पुस्तक-च्युत-संस्कृत दोष भी बहुत हैं। एक और बात यह है कि इसमें:—

"नीतानि नाशं जनकात्मजार्थं
दशाननेनापि दशाननानि"

आदि, विद्यासुन्दर आदि काव्यों के भी श्लोक हैं। अतएव बिल्हण के बाद होने वाले कवियों की कविता का इसमें पाया जाना यह साबित करता है कि इसके कर्त्ता बिल्हण नहीं। किसी श्रोर ही ने इसकी रचना बिल्हण के नाम से कर दी है। सम्भव है काश्मीर में श्रोर कोई बिल्हण हुश्रा हो। उसी ने इसे लिखा हो।

इस पुस्तक में सिर्फ़ बिल्हण श्रोर शशिकला की श्राख्यायिका है। इसी श्राख्यायिका के श्राधार पर इसकी रचना हुई है। इसमें यह श्राख्यायिका इस प्रकार वर्णन की गई है:—

गुजरात में महिलपत्तन एक जगह है। वहाँ वीरसिंह नाम का एक राजा था। उसने श्रवन्ती के राजा श्रतुल की कन्या सुतारा से विवाह किया। सुतारा के गर्भ से शशिकला नाम की एक लड़की पैदा हुई। उसके श्रध्यापन का विचार राजा कर रहा था कि काश्मीरक पण्डित बिल्हण वहाँ पहुँचे। बिल्हण की तारीफ़ राज-पुरोहित राजहंस ने वीरसिंह से की। वीरसिंह बिल्हण से मिलकर बहुत प्रसन्न हुश्रा। उसने चन्द्रकला को बुला कर उसके श्रध्यापन का काम बिल्हण के सिपुर्द किया।

बिल्हण उसे पढ़ाने लगे। राजकन्या बड़ी कुशाग्र-बुद्धि थी। वह थोड़े ही दिनों में पण्डिता हो गई:—

"स्तोकैर्दिनैः शशिकला विदुषी बभूव"।

पण्डिता हो चुकने पर उसे बिल्हण काम-शास्त्र पढ़ाने लगे। शशिकला बिल्हण की "पूर्व-जन्म-पत्नी" थी। यह शास्त्र पढ़ते पढ़ते वह बिल्हण में अनुरक्त हो गई और दोनों ने छिपे छिपे गान्धर्व विवाह कर लिया।

बिल्हण-काव्य की कई प्रतियाँ मिलती हैं। एक में लिखा है कि वीरसिंह ने शशिकला का हाथ बिल्हण के हाथ में देकर कहा, आप इसे पढ़ा कर विदुषी कर दीजिए। इससे मालूम हुआ कि शशिकला और बिल्हण में पर्दा न था। दोनों पास पास बैठ कर अध्ययन-अध्यापन करते थे। पर दूसरी प्रति में लिखा है कि बीच में जवनिका (पर्दा) डाल कर अध्ययन-अध्यापन होता था। इस प्रति में लिखा है कि एक दिन बिल्हण ने शशिकला को सुना कर यह श्लोक पढ़ा:—

जातं सुजन्म विफलं भुवने नलिन्या
दृष्टं यया न विमलं तुहिनांशुविम्बम्।

यावच्छ्रुतं सुवचनं सुकवेस्तयेत्थं
किञ्चिद्विहस्य तुहिनांशुकला बभाषे ॥

अर्थात् जिस कमलिनी ने चन्द्रबिम्ब का दर्शन न किया उसका जन्म ही वृथा है। इस उक्ति को सुन कर चन्द्रकला ने कहा:—

दृष्टानि कोकमिथुनानि भवन्ति यैश्च
सूर्यांशुभिर्जगदिदं निखिलार्थमेति ।
सम्पूर्णतापि शशिनश्च हि निष्फलैव
दृष्टा यया न नलिनी परिपूर्णरूपा ॥

अर्थात् जिस चन्द्रमा ने कमलिनी का दर्शन न किया उसकी सम्पूर्णता भी तो निष्फल है। मतलब यह कि दोनों ने परस्पर एक दूसरे को देखना चाहा। जवनिका हटी। उनका पारस्परिक मनोरथ सिद्ध हुआ।

इसके बाद बिल्हण और शशिकला बराबर मिलते रहे। धीरे धीरे यह बात शशिकला की परिचारिकाओं को मालूम हो गई। उन्होंने राजपुरोहित से कहा। पुरोहित ने एक स्त्री के द्वारा सन्देश भेज कर बिल्हण को इस गर्हित व्यवहार से विरत होने की सलाह दी। पर बिल्हण ने उस की एक न सुनी।

तब पुरोहित ने वीरसिंह को ख़बर दी। अन्त में मन्त्रियों की सलाह से बिल्हण को सूली पर चढ़ाने का हुक्म हुआ। बिल्हण शशिकला के मन्दिर में पकड़े गये। उन्हें वधिकों ने बाँधा और वध्य भूमि को ले चले। वहाँ उनसे कहा गया कि स्नान करके अपने इष्ट देव का स्मरण कीजिए। बिल्हण ने कहा हमारी इष्ट देवता राज-कन्या ही है। अतएव उसी का हम चिन्तन करते हैं। यह कह कर आपने अपनी प्रसिद्ध पञ्चाशिका की रचना आरम्भ की और पचास पद्य बराबर पढ़ते गये। ये पद्य भी इस पुस्तक में हैं। अन्त में आपने कहा कि हमने जो कुछ पुण्य किया हो उसका फल हम यही चाहते हैं कि हर जन्म में शशिकला ही हमारी पत्नी हो। यह कह कर आप वध किये जाने के लिए तैयार हो गये। जो राजसेवक बिल्हण के साथ वधस्थल पर गये थे वे बिल्हण की कविता, दृढ़ता और चन्द्रकला-विषयक अकृत्रिम प्रीति देख कर चकित हो उठे। उन्होंने राजाज्ञा पर बहुत दुःख प्रकट किया और कहा कि हम ब्रह्महत्या की गुरुता को जानते हैं; पर राजा की आज्ञा को टाल नहीं सकते। लाचारी है। कुछ स्त्रियों ने भी यह सब दृश्य देखा।

उधर चन्द्रकला के घर से जब बिल्हण निकाले गये, और उनके विषय में पिता की कठोर आज्ञा चन्द्रकला ने सुनी, तब उसने भी मर जाना निश्चय किया। वह अपने महल की छत पर चढ़ गई और नीचे गिर कर प्राण देने की तैयारी करने लगी। इसी समय कुछ स्त्रियाँ उसके महल में गईं और चन्द्रकला को मरने के लिए उद्यत देख घबरा उठीं। वे दौड़ी हुई चन्द्रकला की माँ के पास आईं और सब हाल बयान किया। उधर वधस्थल का दृश्य जिन स्त्रियों ने देखा था वे भी चन्द्रकला की माँ के पास आईं और बिल्हण की अनुरक्ति आदि का वर्णन किया। इन बातों को सुन कर चन्द्रकला की माँ, सुतारा, फूट फूट कर रोने लगी। दौड़ती हुई वह वीरसिंह के पास गई और कहा कि तुम्हारी आज्ञा ब्रह्महत्या और कन्या की आत्म-हत्या दोनों का कारण होगी। वीरसिंह ने अपने पुरोहित और मंत्रियों से सलाह की। उन्होंने कहा, ब्रह्महत्या और स्त्री-हत्या दोनों घोर पातक हैं। उनसे हमेशा आदमी को बचना चाहिए। इस पर वीरसिंह ने बिल्हण को माफ़ कर दिया और विवाह-विधि-पूर्वक चन्द्रकला भी उसे दे डाली। एक सौ गाँव, हाथी,

घोड़े और धन भी दिया। पुस्तक के अन्त में लिखा है कि जो लोग इस चरित को पढ़ेंगे उनको अन्त में परमधाम की प्राप्ति होगी!

विचार करने से मालूम होता है कि सुनी हुई पुरानी आख्यायिका के आधार पर ही किसी ने इस काव्य की रचना पीछे से की है। यह काव्यमाला तेरहवें गुच्छक में छपा है। इसके निर्म्माण-काल और कर्ता आदि का वहाँ पर कुछ भी उल्लेख नहीं, कहाँ से इस काव्य की प्रतियाँ काव्यमाला के सम्पादकों को मिलीं, यह भी नहीं लिखा। ख़ैर जो कुछ हो, बिल्हण-विषयक सब बातों का सन्नि-वेश इस निबन्ध में करने के लिए हमने इस काव्य का सारांश भी लिख दिया।

डफ़ नाम की एक विदुषी ने अँगरेज़ी में एक किताब लिखी है। उसमें इस देश की प्राचीन घटनाओं आदि का संक्षिप्त उल्लेख और उनके सन् संवत् दिये हैं। पर महिलपत्तन नामक नगर का नाम न तो हमें इस पुस्तक में मिला और न और ही कहीं। वह अन्हिल-पत्तन का ही अपभ्रंश जान पड़ता है। रहा वीरसिंह का काल सो वह बिल्हण के सौ वर्ष पहले ही सिद्ध होता है। सम्भव

है वीरसिंह के कालनिर्णय में ग़लती हो। अवन्ती के राजा अतुल का कोई पता नहीं चलता। पुरातत्त्व के पारदर्शी शायद उसका पता लगा सकें। यदि उसके समय का निर्णय हो जाय तो वीरसिंह के कालनिर्णय की भी पुष्टि हो जाय।

बिल्हण-काव्य में जो बिल्हण को सौ गाँव आदि दिये जाने की बात है वह सन्देहजनक जान पड़ती है। यदि बिल्हण को सौ गाँव और हाथी घोड़े मिलते तो क्यों वे दक्षिण में इधर उधर घूमते फिरते और ख़ुद तअल्लुक़ेदार हो कर क्यों विक्रमाङ्कदेव के आश्रय में रहते?

परिशिष्ट ।

(२)

"बंबई गैज़ेटियर" तथा पुरातत्त्व के पारदर्शी पण्डितों की पुस्तकों से मालूम होता है कि चालुक्य-वंशीय राजाओं का किसी समय दक्षिण में बड़ा प्रभुत्त्व था। इस वंश की दो शाखायें हुई हैं-पूर्व-कालीन और उत्तरकालीन।

पूर्वकालीन राजाओं की राजधानी वातापिपुर थी। इस जगह का वर्तमान नाम बादामी है। यह नगर बीजापुर ज़िले में है। इस शाखा का पहला राजा जयसिंह ईसवी सन के छठे शतक के आरम्भ में हुआ। सब मिला कर ११ राजे इस शाखा के हुए। अन्तिम राजा दूसरा कीर्त्तिवर्म्मा हुआ। ७४७ ईसवी के लगभग इस शाखा की समाप्ति हुई। इस शाखा का सब से अधिक राजा दूसरा पुलकेशी हुआ। इसने क़न्नौज के प्रसिद्ध राजा हर्षवर्धन (शिलादित्य) को परास्त किया। पुलकेशी सार्वभौम राजा था। वह ९० हज़ार गाँवों का अधीश्वर था। इसी के राजत्व-काल में चीन का प्रवासी ह्वान्थसांग भारत में आया था। इस प्रवासी ने अपने प्रवास

का जो वर्णन लिखा है उसमें पुल केशी के प्रभुत्व-आदि का लंबा चौड़ा उल्लेख है।

इस शाखा का सातवाँ राजा विक्रमादित्य (प्रथम) हुआ। इसी के राजत्त्व में इस वंश की एक शाखा गुजरात के अनहिलपट्टन में स्थापित हुई। विक्रमादित्य का भाई, जयसिंहराज, वहाँ का पहला राजा हुआ। इस वंश को गुजरात में दो तीन शाखायें हुईं। आठवीं शताब्दि में इस शाखा का गुजरात में अन्त हो गया।

७५३ ईसवी में पूर्वकालीन चालुक्यों का अधिकार राष्ट्रकूट के राजा दंतिदुर्ग ने छीन लिया। तब से महाराष्ट्र देश में राष्ट्रकूटों की सत्ता का प्रसार हुआ।

महाराष्ट्र में राष्ट्रकूटों की सत्ता कोई २०० वर्ष तक रही। इस दरमियान में चालुक्यों के वंशजों में कोई नाम लेने लायक़ राजा नहीं हुआ। परन्तु दसवीं शताब्दि के मध्य में चालुक्य-वंशीय तैलप राजा ने राष्ट्र-वंशीय कक्कल राजा से दक्षिण-देश का सार्वभौमत्व छीन कर उत्तर-कालीन चालुक्य-वंशीय राजाओं की शाखा की स्थापना की। इस शाखा में सब मिला कर ११ राजे हुए। यथा—

१ तैलप
२ सत्याश्रय
३ विक्रमादित्य (१)
४ जयसिंह
५ सोमेश्वर (१) उपनाम आहवमल्ल
६ सोमेश्वर (२)
७ विक्रमादित्य (२) उपनाम विक्रमाङ्कदेव
८ सोमेश्वर (३)
९ जगदेकमल्ल
१० नूर्मडि तैलप
११ सोमेश्वर (४)

अन्तिम राजा सोमेश्वर (४) ने ११८२ से ११८९ ईसवी तक राज्य किया। तदनन्तर दक्षिण का सार्व-भौमत्व यादव-वंशीय राजाओं के हाथ में गया।

विक्रमाङ्कदेव इसी उत्तर-कालीन चालुक्य-शाखा का सातवाँ राजा था। इसने १०७६ से ११२६ ईसवी तक राज्य किया। इसके पिता का ठीक नाम सोमेश्वर था; पर वह आहवमल्ल भी कहलाता था। बिल्हण ने उसे आहवमल्ल ही लिखा है। किसी किसी शिलालेख से मालूम होता है कि इस राजा

की उपाधि 'त्रैलोक्यमल्ल' भी थी। इसी ने कल्याण नामक नगरी बसाई।

बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेव के भाई सोमेश्वर और जयसिंह आदि के विषय में जो कुछ लिखा है उसका बहुत कुछ अंश ताम्र-पत्रों और शिला-लेखों से मिलता है। बिल्हण ने लिखा है कि आलुप के राजा ने भी विक्रमाङ्कदेव की अधीनता स्वीकार की। यह आलुप नगर अर्वाचीन 'अलुपै' अनुमान किया जाता है अलुपै मलावार के समुद्री किनारे पर एक क़सबा है।

विक्रमाङ्कदेव ने ५० वर्ष राज्य किया। उसने 'कलिविक्रम' और 'परमाडिराय' किंवा 'परमर्दिदेव' उपाधियाँ धारण कीं। उसने 'शक' संवत् का प्रचार बन्द करके अपने नाम से एक संवत् चलाया, पर वह चला नहीं। जिस चन्द्रलेखा का उल्लेख बिल्हण ने किया है और जिसके स्वयंवर का वर्णन बड़ी धूमधाम से लिखा है उसका असल नाम, शिलालेखों के अनुसार, चन्दलदेवी था।

विक्रमादित्य विद्वानों का बड़ा आश्रयदाता था। बिल्हण के सिवा प्रसिद्ध मिताक्षरा के कर्ता विज्ञानेश्वर भी उसके आश्रित थे। यह बात मिता-

क्षरा के अन्त में जो तीन श्लोक हैं उनसे साबित होती है। ये श्लोक बहुत करके मिताक्षरा की सभी हस्त-लिखित प्रतियों में पाये जाते हैं इनका मतलब है–"दुनिया में कल्याण ऐसा शहर नहीं; विक्रमादित्य ऐसा राजा नहीं; और विज्ञानेश्वर ऐसा पण्डित नहीं। विक्रमादित्य राजा यावच्चन्द्रदिवाकर जीवित रहे! उसकी वाणी से शहद टपकता है। वह याचकों को यथेच्छ धन देता है। वह विष्णु का ध्यान करता है। उसने षड्रिपुओं को जीत लिया है। पश्चिम समुद्र से लेकर पूर्व-समुद्र तक जितने राजे हैं सब उसके आज्ञाकारी हैं।"

इससे मालूम होता है कि बिल्हण और विज्ञानेश्वर का आश्रयदाता विक्रमादित्य बड़ा प्रतापी राजा था। उसके समय के कोई दो सौ शिला-लेख मिले हैं, जो इस बात की पुष्टि करते हैं।
